स्वाध्याय-संग्रह

लेखक
वेद-शास्त्रज्ञ स्व० श्री स्वामी वेदानन्द तीर्थ

प्रकाशक
गोविन्दराम हासानन्द
४४०८ नई सड़क, दिल्ली-६

अगस्त १९६९

मूल्य : तीन रुपये

संशोधित मूल्य
५/-
गोविन्द राम हासानन्द

मुद्रक :
अनिल कम्पोजिंग एजेंसी द्वारा
बदलिया प्रिंटिंग प्रेस,
नई सड़क, दिल्ली-६

विषय-सूची

मन्त्र-सूची

॥ ओ३म् ॥

वेद

वेद संसार का सबसे पुराना ग्रन्थ है। विज्ञान, कर्म, उपासना और ज्ञान का मनुष्यमात्र को उपदेश देने के लिए, सृष्टि के आरम्भ में प्रभु ने अग्नि, वायु, आदित्य और अंगिरा महर्षियों को ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद प्रदान किए। वेद-शब्द का अर्थ है ज्ञान, विचार तथा प्राप्ति का साधन। आर्यों का सप्रमाण विश्वास है कि वेद में सब सत्य विद्याएँ बीज रूप से विद्यमान हैं। आर्य्यों के विश्वास की पुष्टि स्वयं वेद से होती है। वेद पढ़ने का सब मनुष्यों को अधिकार है। अगले कुछ पृष्ठों में वेदाविर्भाव, वेदाध्ययन आदि के सम्बन्ध में अर्थ-सहित कुछ मन्त्र दिए गए हैं।

वेदानुसार आचरण

नकिर्देवा मिनीमसि नकिरा योपयामसि मन्त्रश्रुत्यं चरामसि।
पक्षेभिरपिकक्षेभिरत्राभि संरभामहे॥ ऋ० १०।१३४।७॥

(देवाः) हे दिव्यगुणसंपन्न विद्वान् महात्माओ! (नकिः) न तो (मिनीमसि) हम हिंसा करते हैं, (नकिः) [और] न ही (आ+योपयामसि) हम फूट डालते हैं। (मन्त्रश्रुत्यम्) वेदमन्त्र के ज्ञानानुसार (चरामसि) हम आचरण करते हैं। (अत्र) इस संसार में (कक्षेभिः) तिनके समान तुच्छ (पक्षेभिः) साथियों के साथ (अपि) भी (सम्) मिलकर=एक होकर (अभि+रभामहे) सम्मुख उद्योग करते हैं।

वेद हिंसा और फूट का निषेध करता है। वेद तुच्छ-से-तुच्छ सहायक लेकर भी समानता का व्यवहार करते हुए उद्योग करने का उपदेश करता है।

वेद परमात्मप्रणीत हैं

तस्माद्यज्ञात्सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे ।
छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत ।।

य० ३१।७।।

(तस्मात्) उस (सर्वहुतः) सब के दाता (यज्ञात्) पूजनीय परमेश्वर से (ऋचः) ऋचाएँ=ऋग्वेद (सामानि) साम=सामवेद (जज्ञिरे) उत्पन्न हुए। (तस्मात्) उसी से (छन्दांसि) छन्द=अथर्ववेद (जज्ञिरे) उत्पन्न हुए। तस्मात्) उसी से (यजुः) यजुर्वेद (अजायत) उत्पन्न हुआ।

यह मंत्र पुरुषसूक्त या पुरुषाध्याय का है। 'यज्ञ' शब्द सर्वसम्मति से इस मन्त्र में पुरुष का पर्य्यायवाची है। पुरुष शब्द का अर्थ पूर्ण परमेश्वर है। यज्ञ का अर्थ पूजनीय परमेश्वर है। चारों वेद परमात्मा से उत्पन्न हुए, यह स्पष्ट इस मन्त्र में उपदिष्ट है।

कई सज्जन यह आक्षेप करते हैं कि 'छन्दांसि' पद का अर्थ 'अथर्ववेद' कैसे हो सकता है? ऐसे लोग वाक्यार्थपद्धति से अपना अपरिचय सूचित करते हैं। मन्त्र पर ध्यान दीजिए। उसमें तीन वाक्य हैं। पूर्वार्ध में एक वाक्य है। उत्तरार्ध में दो वाक्य हैं। १. तस्माद्यज्ञात्—जज्ञिरे। २. छन्दांसि जज्ञिरे तस्मात्। ३. यजुस्तस्मादजायत। पहले वाक्यों में ऋचाओं=ऋग्वेद और सामों=सामवेद की उस यज्ञपुरुष से उत्पत्ति बताई गई है। तीसरे में यजुर्वेद की उत्पत्ति कही गई है। दूसरे वाक्यों में 'छन्दों' की उत्पत्ति बतलाई गई है। सहचार-नियम से यहाँ 'छन्द' का अर्थ अथर्ववेद है। यदि वादी के कथनानुसार 'छन्दांसि' पद 'ऋचः सामानि' का विशेषण होता, क्यों-

कि वेद छन्दोबद्ध होते हैं, तो फिर 'छन्दांसि जज्ञिरे तस्मात्' ऐसा स्वतन्त्र वाक्य न होता। इस स्वतन्त्र और निराकांक्ष वाक्य में पढ़ा होने और 'जज्ञिरे' इस क्रियापद का कर्त्ता होने से यह 'छन्दांसि' पद 'ऋचः सामानि' का विशेषण नहीं हो सकता। यदि यह 'छन्दांसि' पद 'ऋचः सामानि' का विशेषण होता तो 'ऋचः सामानि' के साथ कहीं पढ़ा होता। जब यह विशेषणपद नहीं, तो फिर 'ऋचः सामानि यजुः' के किसी सजातीय पदार्थ का वाचक होगा। 'ऋचः—' का सजातीय अथर्ववेद है, अतः 'छन्दांसि' पद का अर्थ है 'अथर्ववेद'।

ऋचः सामानि छन्दांसि पुराणं यजुषा सह ।
उच्छिष्टाज्जज्ञिरे सर्वे दिवि देवा दिविश्रितः ॥
अ० ११। ७। २४ ॥

(पुराणम्) पुराणस्वरूप, पुराना होने पर भी सदा नया (यजुषा + सह) = यजुर्वेद के साथ (ऋचः) ऋग्वेद (सामानि) सामवेद (छन्दांसि) अथर्ववेद (सर्वे) सब (उच्छिष्टात् उच्छिष्ट) सर्वोत्कृष्ट परमात्मा से (जज्ञिरे) उत्पन्न होते हैं। (दिविश्रितः) ज्ञान के आश्रय वाले (देव) दिव्यगुणयुक्त वेद वा इन्द्रियाँ (दिवि) दिव्यगुणयुक्त जीव अथवा मन में [प्राप्त होती हैं]

कई लोगों का मत है कि यहाँ 'पुराणम्' पद से ब्रह्मवैवर्त्तादि अष्टादश पुराण अभिप्रेत हैं किन्तु यह अशुद्ध है। यदि 'पुराणम्' पद का अर्थ अठारह पुराण होता, तो यह पद या तो मन्त्र के आरम्भ में आता या 'यजुषा सह' से पूर्व न आकर पश्चात् आता। और 'ऋचः' आदि की भाँति बहुवचन 'पुराणानि' पद का प्रयोग होता। ऐसा न करके भगवान् ने 'पुराणम्' और वह भी वेदों के नामों के बीच में प्रयोग किया है, इससे सिद्ध होता है कि यहाँ 'पुराणम्' पद अष्टादश-पुराणों का वाचक न होकर किसी और अभिप्राय को प्रकट करता

है। वेदों के नामों के मध्य में प्रयुक्त होने से 'देहली-दीप-न्याय'[१] से यह सब का विशेषण हो जाता है। 'पुराण' शब्द का अर्थ है, पुराण होता हुआ भी नया बना रहने वाला। वेद सदा से है, अतः पुराना है। प्रत्येक सृष्टि के आरम्भ में मनुष्यों के हितार्थ भगवान् इसका उपदेश करते हैं अतः नया है। वेद का उपदेश किसी विशेष काल के लिए न होकर सब कालों के लिए उपयोगी होने के कारण सदा नया भासता है। अतः पुराण शब्द का पूरा-पूरा अर्थ वेदों पर ही घटता है। पुराण शब्द का एक अर्थ किया जाता है—जो सृष्टि की उत्पत्ति से पूर्व की अवस्था का वर्णन करे। यह अर्थ भी पूर्णतया वेद में ही चरितार्थ होता है। वेद के 'नासदीय' आदि सूक्त सृष्टि की उत्पत्ति से पूर्व दशा का ठीक-ठीक सुन्दर वैज्ञानिक वर्णन करते हैं। इससे सिद्ध हुआ कि पुराण शब्द 'ऋचः' आदि का विशेषण है।

एक आक्षेप यह किया जाता है कि 'पुराणम्' शब्द नपुंसकलिंग हैं, 'ऋचः' आदि विशेष्य पद स्त्रीलिंग नपुंसकलिंग हैं। इसके उत्तर में निवेदन है कि व्याकरण के नियमानुसार सबका विशेषण होने से 'पुराणम्' नपुंसकलिंग ही बनता है।

इस मन्त्र में परमात्मा को 'उच्छिष्ट नाम से स्मरण किया गया है। इस नाम का विशेष रहस्य है। साधारण संस्कृत में उच्छिष्ट का अर्थ 'जूठा=भुक्तशिष्ट=खाने से बचा हुआ' होता है किन्तु वेद में शब्द यौगिक होते हैं, अतः यह शब्द परमात्मा का वाचक बन जाता है। उच्छिष्ट=उत्-शिष्ट, अर्थात् जो ऊपर से बच रहे। जिज्ञासु, तत्वज्ञानी श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ गुरु से परमात्मा के सम्बन्ध में जिज्ञासा करता है। गुरु शिष्य को समझाने के लिए एक-एक पदार्थ का नाम लेकर कहते हैं—'यह ब्रह्म नहीं, यह ब्रह्म नहीं।' इस

१. देहली-दीप-न्याय—(देहलीज़) में दीपक रखने से वह अन्दर-बाहर दोनों ओर प्रकाश करता है।

प्रकार सारे दृश्यादृश्य पदार्थों को ब्रह्मभिन्न बतलाते हैं। शिष्य फिर पूछता है—'महाराज ! फिर ब्रह्म है क्या वस्तु ? इन सूर्य्य चन्द्रादि को गति कौन देता है ? इनकी स्थिति किसके आधार से है ?' गुरु कहते हैं—'यही तो सबके बाद बच रहा है। यही उच्छिष्ट ब्रह्म है। उसी उच्छिष्ट की महत्ता अथर्ववेद ११।७ में वर्णन की गई है। वेदान्त की परिभाषा में 'नेति-नेति' द्वारा जिसका उपदेश दिया गया है, वेद में उसे 'उच्छिष्ट' कहा गया है। 'नेति-नेति' की अपेक्षा 'उच्छिष्ट' पद में विशेषता है। 'नेति-नेति' से केवल निषेधात्मक बोध होता है, किन्तु 'उच्छिष्ट' पद विधिपरक ज्ञान देता है। सबमें समाकर सबके अन्दर-बाहर व्यापक होकर, सबसे पृथक् जो बचा है, वह 'उच्छिष्ट' है। भगवान् सारी सृष्टि में व्यापक है। सृष्टि तो उसके, मानो एक अंश में स्थित है, अतः वह 'उच्छिष्ट' है। उच्छिष्ट शब्द का एक और अर्थ भी है—उत्=उत्तम, शिष्ट=उपदेष्टा अर्थात् परमाप्त। अर्थात् परमात्मा सबसे बड़ा उपदेशक है। दूसरे शब्दों में परमात्मा वेदज्ञान का दाता है। मन्त्र में वेदों की उत्पत्ति परमात्मा से बतला कर इस ध्वनित अर्थ को स्पष्ट शब्दों में—'अभिधावृत्ति' से—भी कह दिया है। 'उच्छिष्ट' शब्द का एक अर्थ है—उत्तम शासक या उन्नति के लिए शासन करने वाला। अर्थात् परमात्मा शासन तो करता है किन्तु जीवों की उन्नति सिद्ध करने के लिए।

वेद का आविर्भाव

बृहस्पते प्रथमं वाचो अग्रं यत्प्रैरत नामधेयं दधानाः ।
यदेषां श्रेष्ठं यदरिप्रमासीत्प्रेणा तदेषां निहितं गुहाविः ॥

ऋ० १०।७१।१॥

(बृहस्पते) हे वेदाधिपते महेश ! (प्रथमम्) पहले [सृष्टि के आरम्भ में] (नामधेयम्) नाम (दधानाः) रखते हुए [महर्षि] (यत्) जो [वचन] (प्रैरत) प्रेरते हैं, उच्चारण करते हैं (वाचः) [वह] वाणी

का (अग्रम्) मुख्य, प्रधान, श्रेष्ठ [है] (यत्) जो (एषाम्) इनमें से (श्रेष्ठम्) श्रेष्ठ [होता है] (यत्) और [जो] (अरिप्रम्) निर्दोष, पापशून्य (आसीत्) होता है (तत्) वह, (एषाम्) इनके (गुहा) हृदय-गुफा में (निहितम्) रखा हुआ। (प्रेणा) [इनके] प्रेम से (आविः) प्रकट होता है।

जब सर्गारम्भ में मनुष्य उत्पन्न हुए, और उन्होंने चारों ओर परिदृश्यमान पदार्थों के नामकरण की इच्छा की तब परमगुरु सर्वविद्यानिधान भगवान् ने उनमें वाणी की प्रेरणा की। वही वाणी का प्रथम प्रकाश है। वह वाणी किनको मिली ? वेद कहता है, जो सर्गारम्भ के मनुष्यों में से श्रेष्ठ एवं निर्दोष होने के साथ प्रभु की कल्याणी वाणी के प्रचार के लिए भी उत्कट भावना रखते थे। सर्वव्यापक अन्तर्यामी प्रभु ने उनके हृदय में प्रेरणा की।

'यदेषां श्रेष्ठं यदरिप्रमासीत्' का एक अर्थ यह भी है कि जो ज्ञान श्रेष्ठ=सबसे उत्तम और अरिप्र=निर्दोष=भ्रम विप्रलिप्सा आदि दोषों से शून्य था, वह इनको दिया गया।

तात्पर्य्य यह कि सृष्टि के आरम्भ में मनुष्य को वाणी के साथ ज्ञान भी दिया गया, अर्थात् शब्दार्थसम्बन्धयुक्त ज्ञान दिया गया।

प्रश्न होता है जिनको सृष्टि के आरम्भ में ज्ञान दिया जाता है, कदाचित् वे उसमें अपने भाव मिला देते हों ! इसका समाधान निम्नलिखित मन्त्र में किया गया है—

सक्तुमिव तितउना पुनन्तो यत्र धीरा मनसा वाचमक्रत ।
अत्रा सखायः सख्यानि जानते भद्रैषां लक्ष्मीर्निहिताधि वाचि ।।
ऋ० १० । ७१ । २ ।।

(यत्र) जब (धीराः) मेधावी महात्मा (मनसा) मनन से, मन से (वाचम्) वाणी को [पुनन्तः=पवित्र करते हुए] (अक्रत) करते हैं, बोलते हैं, (इव) [तब] मानो [वे] (तितउना) चालनी से (सक्तुम्)

सत्तू को (पुनन्तः) साफ कर रहे थे। (अत्र) इस विषय में (सखायः) मित्र (सख्यानि) मैत्री के नियमों को (जानते) जानते हैं (एषाम्) [क्योंकि] इनकी (वाचि अधि) वाणी पर (भद्रा) कल्याणी (लक्ष्मीः) शोभा (निहिता) रखी हुई है।

अर्थात् वे महात्मा केवल प्रभुप्रेरित वचनों को ही बोलते हैं। उसमें अपनी ओर से कोई वाक्य नहीं मिलाते। वे भगवान् के सखा होते हैं। सखा, सखा के भावों की सदा रक्षा किया करता है। कोई भी सखा अपने सखा की कृति में विकृति नहीं करता। और इनकी वाणी पर न तो मानो लक्ष्मी विराज रही होती है। इस से सिद्ध हुआ कि वेद साक्षात् प्रभु की कल्याणी वाणी है–मिलावट, प्रक्षेपादि से सर्वथा शून्य है। प्रभु की कृपामयी कृति से सबको लाभ उठाना चाहिए।

जिस प्रकार चालनी द्वारा साफ करने पर सत्तू ही निकलते हैं भूसा साथ नहीं आता। इसी प्रकार उन देवर्षियों की वाणी से वेदवाणी ही निकलती है, उनके मानसिक विचार साथ नहीं आते।

पश्यन्नपि न पश्यति

उत त्वः पश्यन्न ददर्श वाचमुत त्वः शृण्वन्न शृणोत्येनाम् ।
उतो त्वस्मै तन्वं विसस्रे जायेव पत्य उशती सुवासाः ॥
ऋ० १०।७१।४॥

(त्वः) कोई एक (पश्यन्) देखता हुआ (उत) भी (वाचम्) [वेद] वाणी को (न) नहीं (ददर्श) देखता है (त्वः) कोई एक (शृण्वन्) सुनता हुआ (उत) भी (एनाम्) इस [वेदवाणी] को (न) नहीं (शृणोति) सुनता है (त्वस्मै) किसी के लिए (उतो) तो (पत्ये) पति के लिए (उशती) कामना करती हुई (सुवासाः) ऋतुस्नाता (जाया-इव) पत्नी के समान (तन्वम्) शरीर को (वि-सस्रे) खोल देती है।

वाणी=शब्द कान का विषय है। वाणी का देखना तभी संभव हो सकता है, जब वह लिखी हुई हो। जो पढ़ना-लिखना नहीं जानते, वे लिखे हुए को देखते हुए भी नहीं देखते। अतः उनका पुस्तक आदि देखना व्यर्थ है, क्योंकि वे पढ़ तो सकते नहीं। ऐसे लोगों को वेदादि सुनने का यत्न करना चाहिए। कई ऐसे अभागे होते हैं कि वे समझ नहीं पाते कि क्या कहा जा रहा है। ऐसे लोग सुनते हुए भी नहीं सुनते। सुनकर यदि समझा न, तो सुनना एक प्रकार से व्यर्थ ही है। कई ऐसे भाग्यवान् होते हैं जो दिन-रात परिश्रम करके श्रवण-मनन के द्वारा वाणी का रहस्य जान लेते हैं, उन पर मानो वाणी प्रसन्न होकर ऋतुस्नाता पत्नी की भाँति अपना शरीर खोलकर अर्पण कर देती है। अर्थात् वाणी का रहस्य जानने के लिए वाणी का पति होना चाहिए, और उसके लिए निरन्तर, श्रवण मनन के द्वारा वाणी को अपने वश में रखने की चेष्टा करनी चाहिए।

चार वेद

ऋचां त्वः पोषमास्ते पुपुष्वान् गायत्रं त्वो गायति शक्वरीषु ।
ब्रह्मा त्वो वदति जातविद्यां यज्ञस्य मात्रां वि मिमीत उ त्वः ॥

ऋ० १०।७१।११॥

(त्वः) एक (पुपुष्वान्) पुष्टि करता हुआ (ऋचाम्) ऋचाओं की (पोषम्) पुष्टि को (आस्ते) आश्रय करता है (त्वः) एक (शक्वरीषु) शाक्वर सामों में (गायत्रम्) गायत्र्यादि छन्दों को (गायति) गाता है। (त्वः) एक (ब्रह्मा) ब्रह्मा (जातविद्याम्) संशय दशा में कर्त्तव्य ज्ञान को (वदति) बोलता है (उ) और (त्वः) एक (यज्ञस्य) यज्ञ के (मात्राम्) परिणाम को, शरीर को (वि-मिमीत) विशेष रूप से बनाता है।

बड़े-बड़े यज्ञों में चार मुख्य ऋत्विक् होते हैं। ऋचाओं से जो कार्य्य करता है, उसे 'होता' कहते हैं; मन्त्र के पहले चरण में उसकी

ओर संकेत है। जो सामगान करता है, उसे 'उद्गाता' कहते हैं इसका निर्देश दूसरे पाद में है। यजुर्वेद द्वारा जो यज्ञ की सारी प्रक्रिया का अनुष्ठान कराता है, उसे 'अध्वर्यु' कहते हैं; इसका उल्लेख मन्त्र के अन्तिम पाद में है। यज्ञ करते समय यदि किसी क्रिया की कर्त्तव्यता में सन्देह हो जाए, तो 'ब्रह्मा' उसका समाधान करता है; वह अथर्ववेद का विशेषज्ञ होता है। 'अथर्व' का अर्थ होता है—'संशयरहित।'

इस प्रकार यज्ञ के मिष से चारों वेदों का निर्देश विलक्षण शैली के द्वारा करा दिया गया है।

वेद प्रक्षेपादि से रहित हैं

अन्ति सन्तं न जहात्यन्ति सन्तं न पश्यति ।
देवस्य पश्य काव्यं न ममार न जीर्यति ॥
अ० १० । ८ । ३२ ॥

(अन्ति) समीप (सन्तम्) होते हुए को [मनुष्य] (न) नहीं। (पश्यति) देखता है। (अन्ति) समीप (सन्तम्) होते हुए को (न) नहीं (जहाति) छोड़ता है। (देवस्य) भगवान् के (काव्यम्) काव्य को (पश्य) देख (न) [वह] न तो (ममार) मरता है (न) [और] न ही (जीर्य्यति) पुराना होता है।

परमात्मा इतना समीप है कि मनुष्य उसको देख नहीं पाता। यद्यपि उसे देख नहीं पाता, किन्तु मनुष्य उसे छोड़ भी नहीं सकता, क्योंकि परमात्मा तो उसके घट-घट में व्यापक है। जब परमात्मा से छूटना=अलग होना असम्भव है, तब उस अत्यन्त निकटतम रहने वाले को देखने जानने और पहचानने का यत्न करना चाहिए। उसके जानने पहचानने के लिए उसके रचे परम काव्य-वेद का अभ्यास करना चाहिए। वेद की विशेषता यह है कि काल बीतने के साथ उसके उपदेश असामयिक=out of date, जीर्ण न होते। वेद आज भी वैसा नया है, जैसा आज से लाखों वर्ष पहले था। परमात्मा का

वचन होने से यह शब्द ब्रह्म सदा ब्रह्म के साथ रहता है, अतः उसका विनाश कभी नहीं होता, अर्थात् किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं होता ; सदा जवान के समान प्रौढ़ बना रहता है।

वेद सब विद्याओं का पुस्तक है

यस्मात्पक्कादमृतं संबभूव यो गायत्र्या अधिपतिर्बभूव ।
यस्मिन् वेदा निहिता विश्वरूपास्तेनौदनेनाति तराणि मृत्युम् ॥

अ० ४।३५।६॥

(यस्मात्) जिस (पक्वात्) पके हुए [ओदन] से (अमृतम्) जीवन, मोक्ष (सम्बभूव) उत्पन्न होता है (यः) जो (गायत्र्याः) गायत्री का (अधिपतिः) अधिपति, स्वामी (बभूव) है (यस्मिन्) जिसमें, जिसके लिए (विश्वरूपाः) सब पदार्थों का निरूपण करने वाले (वेदाः) वेद (निहिताः) रखे हैं (तेन) उस (ओदनेन) ओदन के द्वारा (मृत्युम्) मृत्यु को (अति+तराणि) अतिक्रमण करता हूँ, पार करता हूँ।

अथर्ववेद के चतुर्थकाण्ड के ३५वें सूक्त में ओदन या ब्रह्मौदन का वर्णन है। इससे मृत्यु के अतितरण=पार करने की चर्चा है। ओदन का सामान्य अर्थ लौकिक संस्कृत में भात होता है, किन्तु भात से मौत को कोई कौन पार सकता है? ओदन, जिसके पकने से जीवन या मोक्ष मिले, जिसमें और जिसके लिए सर्वविद्यानिधान वेद हों, ब्रह्मज्ञान के अतिरिक्त और कोई वस्तु नहीं हो सकता। जब ब्रह्मज्ञान का पूर्ण परिपाक हो जाता है, तब मनुष्य को मोक्ष प्राप्त हो जाता है। सारी विद्याओं का तात्पर्य्य परमात्मा की प्राप्ति में है। गायत्री= उपासना का भी यह शिरोमणि है। इस ब्रह्मध्यान, ब्रह्मचिन्तन से मनुष्य मृत्यु को=जनन-मरण को पार कर जाता है।

स्पष्ट ही इस मन्त्र में वेदों को 'विश्वरूपाः=सब पदार्थों के निरूपण करने वाले' कहा गया है। इसके आधार पर 'वेद सत्यविद्याओं

का पुस्तक है' यह आर्ष वचन प्रवृत्त हुआ है।

वैश्वदेवीं वर्चस आरभध्वं शुद्धा भवन्तः शुचयः पावकाः।
अतिक्रामन्तो दुरिता पदानि शतं हिमाः सर्ववीरा मदेम ॥
अ० १२ । २ । २८ ॥

(वर्चसे) वर्चस्=तेज के लिए (वैश्वदेवीम्) सब देवों=विषयों का ज्ञान कराने वाली वेदवाणी को (आरभध्वम्) पूरी तरह आरम्भ करो=अभ्यास करो (शुद्धाः) शुद्ध [और इसके द्वारा] (शुचयः) पवित्र (भवन्तः) होते हुए (पावकाः) [दूसरों को] पवित्र करने वाले [बनो] (दुरिता) दुरवस्था वाले (पदानि) ठिकानों को, चिह्नों को (अति+क्रामन्तः) अतिक्रमण करते हुए (सर्ववीराः) हम सब वीर (शतम्) सौ (हिमाः) सर्दियाँ=वर्ष (मदेम) आनन्द से रहें।

मन्त्र का मुख्य विषय सौ वर्ष की पूर्ण आयु तक मस्त रहना है। उनके साधन हैं—१. दुरित पदों का त्यागना। दुरित=दुर्-इत का अर्थ है बुरा आचार [गति, चाल] बुरा सहचार [प्राप्ति=संगति] और बुरा विचार [ज्ञान]। दीर्घायु के अभिलाषी को यह तीन दुरित=दोष अवश्य त्यागने चाहिए। गम्भीरता से देखिए, सम्पूर्ण बुराइयों का इन तीन में अन्तर्भाव हो जाता है। इन दुरितों को छोड़ने के लिए, २. पावक=पवित्र करने वाला=दूसरों को पवित्र करने वाला बनना पड़ेगा, और उसके लिए, ३. स्वयं शुद्ध और शुचि बनना होगा। अपने अन्दर शुद्धता तथा शुचिता लाने के लिए, ४. वैश्वदेवी=सब दिव्यगुणों एवं मनुष्योपयोगी सब विषयों का बोध कराने वाले प्रभु की कल्याणी वेदवाणी का संरभ=वेग से अभ्यास करना होगा; अर्थात् वेद का श्रवण-पठन मनुष्य के अन्दर पवित्रता पैदा करके दुर्व्यसनों से बचाता है, उससे मनुष्य दीर्घ आयु पाता है।

स्पष्ट ही इसमें वेद के पढ़ने का विधान है, तथा उसे सब विषयों का पुस्तक कहा गया है।

वेद सबके लिए

त्वं विष्णो सुमतिं विश्वजन्यामप्रयुतामेवयावो मतिं दाः ।
पर्चो यथा नः सुवितस्य भूरेरश्वावतः पुरुश्चन्द्रस्य रायः ॥
ऋ० ७।१००।२॥

(विष्णो) हे चराचर में व्यापक प्रभो ! (त्वम्) तू (मतिम्) मनन करने योग्य (अप्रयुताम्) [दोषों की] मिलावट से रहित (विश्वजन्याम्) सर्वजनहितकारिणी (सुमतिम्) उत्तम ज्ञान वाली [वेदवाणी] (दाः) देता है (यथा) जिससे (नः) हमें (सुवितस्य) प्रेरित (भूरेः) बड़े (अश्वावतः) घोड़ों, बिजली आदि से युक्त (पुरुश्चन्द्रस्य) अत्यन्त आनन्द देने वाले (रायः) धन का (पर्चः) संयोगी बनता है ।

वेद को यहाँ 'विश्वजन्या सुमति' कहा गया है। विश्वाजन्या का अर्थ है—विश्व=सब जनों का हित करने वाली ।

इसके साथ इसे 'अप्रयुता' कहा है, जिसका अर्थ है मिलावट-रहित, शुद्ध ।

परमेश्वर को यहाँ 'विष्णु' नाम से संबोधन किया गया है। कदाचित् ब्राह्मणग्रन्थों में इसी मन्त्र के आधार पर वेद को 'वैष्णवी वाक्' कहा गया है ।

वेदप्रचारक वीर होता है

नयसीद्वति द्विषः कृणोष्युक्थशंसिनः ।
नृभिः सुवीर उच्यसे ॥ ऋ० ६।४५।६॥

(इत् उ) सचमुच ही (द्विषः) शत्रुओं को (अति नयसि) तू दूर ले जाता है, शत्रुओं को अतिक्रमण करके दूर ले जाता है (उक्थ-शंसिनः) [और उनको] वेद प्रशंसक (कृणोषि) तू कर देता है। (नृभिः) [अतः] मनुष्यों से (सुवीरः) उत्तम वीर (उच्यसे) कहा जाता है ।

शत्रु को दूर भगाना कुछ इतना कठिन नहीं, जितना उसे वेदभक्त बनाना। शत्रुओं को पराजित करने वाला, निस्सन्देह, वीर, है, किन्तु वह महावीर=सुवीर है, जो उनको वेदभक्त बनाता है। इशारे से वेद ने यह संकेत कर दिया कि शत्रुता दूर करने का सर्वोत्तम प्रकार है शत्रु को वेदभक्त बनाना और कि वेदप्रचार साधारण जनों का कार्य्य नहीं। इस कार्य को कोई विरला वीर, जो संसार की निन्दा-स्तुति की परवाह न करता हो, कर सकता है।

हम सब वेद-प्रचार करें

तमिद्वोचेमा विदथेषु शम्भुवं मन्त्रं देवा अनेहसम्।
इमां च वाचं प्रतिहर्यथा नरो विश्वेद्वामा वो अश्नवत्॥

ऋ० १। ४०। ६॥

(देवाः) हे विद्वानो ! (विदथेषु) ज्ञानयज्ञों में (तम्) उस (शम्भुवम्) कल्याणमय (अनेहसम्) निर्दोष (मन्त्रम्) मन्त्र को (इत्) ही (वोचेम) वोलें। (नरः) हे मनुष्यो ! (च) और (इमाम्) इस (वाचम्) वाणी को (प्रतिहर्यथ) चाहो, (वः) तुम्हें (विश्वा) सारी (इत्) ही (वामा) कमनीय वाणी (अश्नवत्) प्राप्त होगी।

सब मनुष्य तभी इस वेदवाणी को चाह सकते हैं जब यह सब-के लिए हो। अतः सिद्ध है, कि वेदवाणी में सबका अधिकार है। अतः सभी को प्रेरणा करनी चाहिए कि वे इस वाणी की कामना करें।

वेदाध्ययन

स्तुता मया वरदा वेदमाता प्र चोदयन्तां पावमानी द्विजानाम्। आयुः प्राणं प्रजां पशुं कीर्त्तिं द्रविणं ब्रह्मवर्चसं मह्यं दत्त्वा व्रजत ब्रह्मलोकम्॥ ऋ० १९। ७१। १॥

प्रभु आदेश देते हैं=हे मनुष्यो ! (प्रचोदयन्ताम्) [लोगों को]

उत्तम प्रेरणा दो। (द्विजानाम्) द्विजों की (पावमानी) पवित्र करने वाली (वरदा) उत्तम पदार्थ दिलाने वाली (वेदमाता) वेद माता (मया) मैंने (स्तुता) उपदेश कर दी। (आयुः) [अव] आयुः (प्राणम्) प्राण, (प्रजाम्) सन्तान (पशुम्) पशु, (कीर्त्तिम्) कीर्त्ति, (द्रविणम्) धन (ब्रह्मवर्चसम्) ब्रह्मतेज, ज्ञानबल (मह्यम्) मुझे (दत्त्वा) देकर (ब्रह्मलोकम्) ब्रह्मलोक=मुक्ति को (व्रजत) तुम प्राप्त करो।

भगवान् आदेश करते हैं—'हे मनुष्यो! तुम निरुत्साह मत होओ। मैंने तुम्हारे कल्याण के लिए कल्याणी वेदवाणी का उपदेश कर दिया है। वह पवित्रता देने वाली है। उसका अर्थज्ञान के साथ अध्ययन करके जो उसके अनुसार आचरण करेगा, उसे आयु को लम्बा करने के साधन ज्ञात होंगे, प्राणतत्त्व का ज्ञान होगा। प्राण-शक्ति वाले की सन्तान भी बलवाली होती है। ज्ञानसंपन्न होने से उसके पास पशुओं की कमी नहीं रहती। कीर्त्ति दिन-दिन बढ़ती है। धनधान्य प्रचुर होता है। विद्या और तप के कारण उसके ब्रह्मतेज और ज्ञानशक्ति उत्तरोत्तर वृद्धि को पाते रहते हैं। भगवान् सावधान करते हैं कि—मैंने तुम मनुष्यों को वेदज्ञान इसलिए नहीं दिया कि तुम उपर्युक्त वस्तुओं की प्राप्ति में ही सारा जीवन लगा दो। निस्सन्देह मानव-जीवन के लिए यह वस्तुएँ अत्यन्त उपयोगी और आवश्यक हैं, किन्तु इनकी प्राप्ति का उद्देश्य कुछ और है। भोग-विलास तो पशुपक्षी भी प्राप्त करते हैं, कदाचित् मनुष्य की अपेक्षा अधिक करते हैं। तुम इन सबका उपयोग लेते हुए इन्हें मेरे अर्पण कर दो। मुझे इनकी आवश्यकता नहीं है, यह ठीक है, किन्तु तुम छुटकारा चाहते हो। मैंने अपनी सारी सम्पत्ति=प्रकृति जीवों के कल्याण के लिए दे रखी है। तुम भी जीवों के कल्याण के लिए इन को दे डालो। इस तरह वे मेरे अर्पण हो जाएँगी, और तुम मुक्ति के अधिकारी बन जाओगे।

य: पावमानीरध्येत्यृषिभि: संभृतं रसम् ।
सर्वं स पूतमश्नाति स्वदितं मातरिश्वना ॥
सा० उ० ५।२।८/१॥

(य:) जो (पावमानी:) पवित्र करने वाली वेद-ऋचाओं को (अध्येति) विचारता है, स्मरण करता है (स:) वह (ऋषिभि:) ऋषियों के द्वारा (संभृतम्) भले प्रकार धारण किये हुए, उत्तमता में पुष्ट किये हुए (मातरिश्वा) [और] ब्रह्मनिष्ठ से (स्वदितम्) स्वदित=खाये हुए (सर्वम्) सारे (पूतम्) पवित्र (रसम्) रस को (अश्नाति) खाता है, भोगता है।

वेदविचार से मनुष्य के अन्दर वह सामर्थ्य आ जाता है कि वह ऋषियों और ब्रह्मनिष्ठों की श्रेणी में आ जाता है। संसार के विषयों में रस है अवश्य, किन्तु वह मलिन है, उससे आत्मा और अन्त:करण मलिन और शरीर भी शीर्ण होता है। किन्तु ब्रह्मामृत रस अत्यन्त पवित्र है, उसके सेवन से आत्मिक, मानसिक, शारीरिक तृप्ति के साथ शुद्धि भी होती है।

पावमानीर्योऽध्येत्यृषिभि: सम्भृतं रसम् ।
तस्मै सरस्वती दुहे क्षीरं सर्पिर्मधूदकम् ॥
सा० उ० ५।२।८/२॥

(य:) जो (पावमानी:) पवित्र वेद-ऋचाओं को (ऋषिभि:) [और] ऋषियों से (सम्भृतम्) धारण किये (रसम्) रस को (अध्येति) विचारता है (सरस्वती) ज्ञानाधार प्रभु (तस्मै) उसके लिए (क्षीरम्) दूध (सर्पि:) घी (मधु) मधु, शहद (उदकम्) [और] जल अथवा (मधु-उदकम्) मीठा जल (दुहे) दोहता है, देता है।

वेदाध्यन, ज्ञानाभ्यास का प्रथम फल यह होना चाहिए कि मनुष्य को उत्तम भोजन मिले। वह ज्ञान थोथा है, निष्प्रयोजन और अतएव हेय है, जो जीविका-अर्जन=शरीर-निर्वाह के साधन नहीं बता

सकता। वेदाध्ययन तथा तदनुसार अनुष्ठान करने वाले को जीवन-निर्वाह=शरीरपोषण के सब उत्तम साधन प्राप्त होते हैं।

पावमानीः स्वस्त्ययनीः सुदुघा हि घृतश्चुतः ।
ऋषिभिः संभृतो रसो ब्राह्मणेष्वमृतं हितम् ॥

सा० उ० ५ । २ । ८/३ ॥

(हि) सचमुच (पावमानीः) वेद की पवित्र ऋचाएँ (स्वस्त्ययनीः) कल्याण प्राप्त कराने वाली (सुदुघाः) उत्तम रीति से फल देने वाली (घृतश्चुतः) [और] घृत=घी और तेज प्राप्त कराने वाली हैं। (ऋषिभिः) [उनसे] ऋषियों ने (रसः) रस, आनन्द (संभृतः) धारण किया (ब्राह्मणेषु) [और] ब्रह्मवेत्ताओं में (अमृतम्) जीवन अथवा मोक्ष (हितम्) डाल दिया गया।

वेद से बढ़कर सुमार्गोपदेशक ग्रन्थ जगत् में दूसरा कोई नहीं है। विद्याओं का आकर होने से सब प्रकार के सुखसाधनों का ज्ञान इससे होता है। अतः इसके द्वारा कामनाएँ सरलता से पूर्ण हो जाती हैं। ऋषियों का ऋषित्व वेदाभ्यास, वेदमनन, और वेदानुसार कर्मानुष्ठान से होता है। ब्रह्मवेत्ता को ब्रह्मज्ञान वेद से ही होता है। वेदज्ञान और तदनुसार अनुष्ठान का फल होता है अमृत=मोक्ष=जन्ममृत्युप्रबन्ध से छुटकारा, ऐसा जीवन जिसकी समाप्ति मृत्यु के द्वारा नहीं होती। सारांश यह है कि मोक्ष के लिए वेदज्ञान अनिवार्य है।

पावमानीर्दधन्तु न इमं लोकमथो अमुम् ।
कामान्त्समर्द्धयन्तु नो देवीर्देवैः समाहृताः ॥

सा० उ० ५ । २ । ८/४ ॥

(पावमानीः) वेद की पवित्र ऋचाएँ (नः) हमारे लिए (इमम्) इस (लोकम्) लोक को (अथो) और (अमुम्) उस परलोक को (दधन्तु) अर्जन करें (देवैः) निष्काम विद्वानों द्वारा, अथवा वेदप्रापक ऋषियों द्वारा (समाहृताः) भली प्रकार लाई गई (देवीः) [वे] दिव्य-

गुण वाली ऋचाएँ (नः) हमारी (कामान्) कामनाओं को (सम्+अर्द्धयन्तु) समृद्ध करें, फलीभूत करें।

वेद में लोकोन्नति तथा परलोकप्राप्ति के सब साधन वर्णन किए गए हैं। जो वेदाभ्यास करता है, तदनुकूल आचरण करता हैं, मानों वैदिक ऋचाएं उसके लिए दोनों लोकों की कमाई का साधन बन जाती है। ऋचाएं सर्गारंभ में परमात्मा से देवों ने प्राप्त की थीं, इसके द्वारा मनुष्य की सारी कामनाओं की पूर्ति हो सकती है।

सर्गारंभ में वेद प्राप्त करने वाले महर्षियों को देव कहते हैं।

येन देवाः पवित्रेणात्मानं पुनते सदा।
तेन सहस्रधारेण पावमानी। पुनन्तु नः॥

सा० उ० ५।२।८/५॥

(देवाः) निष्काम ज्ञानी (येन) जिस (पवित्रेण) पवित्र के द्वारा=ज्ञान के द्वारा (सदा) सदा (आत्मानम्) अपने को, आत्मा को (पुनते) पवित्र करते हैं (तेन) उस (सहस्रधारेण) हजारों धाराओं वाले [ज्ञान] के द्वारा (पावमानीः) वेद की पवित्र ऋचाएँ (नः) हम को (पुनन्तु) पवित्र करें।

वेद में आत्मशुद्धि के सहस्रों उपाय वर्णित हैं ज्ञानी जन सदा उन उपायों का अवलम्बन करके अपने अन्तःकरण और आत्मा को, मल विक्षेप और आवरण से रहित करके, सदा विमल बनाने का उद्योग करते रहते हैं। उनका अनुकरण करके मनुष्य वेद का स्वाध्याय करके आत्मस्वरूप को जानें, आत्मा को दूषित करने वाले साधनों को पहचानें, और फिर वेदोक्त मलनाशक, पवित्रता-साधक साधनो का अनुष्ठान करके अपने-आपको पवित्र बनाएँ। मनुष्य-जन्म की सफलता इसी में है कि मनुष्य आत्मिक और मानसिक दोषों से रहित होकर शुद्ध और पवित्र बनें।

पावमानीः स्वस्त्ययनीस्ताभिर्गच्छति नान्दनम् ।
पुण्यांश्च भक्षान् भक्षयत्यमृतत्वं च गच्छति ।।
सा० उ० ५।२।८/६।।

(पावमानीः) वेद की पवित्र ऋचाएँ (स्वस्त्ययनीः) उत्तम अवस्था प्राप्त कराने वाली [हैं] (ताभिः) [क्योंकि मनुष्य] उनके द्वारा (नान्दनम्) आनन्द को, हर्ष को (गच्छति) प्राप्त होता है। (च) और (पुण्यान्) पुण्य, पवित्र (भक्षान्) भक्ष्यों=भोजनों को (भक्षयति) खाता खिलाता है। (च) और (अमृतत्वम्) मुक्ति को (गच्छति) प्राप्त करता है।

वेद मन्त्रों को 'स्वस्त्ययनीः' कहा गया है, इस मन्त्र में पूर्वोक्त तीन मन्त्रों में कहे तत्त्व का अनुवाद करके उसमें तीन हेतु दिए हैं— १. आनन्द, ज्ञान से बढ़कर लोक में आनन्ददायक और नहीं है। २. वेदद्वारा उसे सब भूतों को आत्मवत् देखने का उपदेश मिलता है, अतः वह हिंसा, चोरी, अन्याय आदि कुसाधनों से प्राप्त भोजन को त्याग देता है, और घी, दूध, दधि, अन्न, फ़ल मूल आदि पवित्र भोजन खाता है तथा ३. अन्त में मुक्ति प्राप्त करता है। जिसके द्वारा यह तीन सार पदार्थ मिलें, उसके स्वस्त्ययनी होने में किसे सन्देह हो सकता है !

सामवेद के इन छः मन्त्र में वेदविचार-वेदमनन का जो फल वर्णन किया है, वह पौराणिक अर्थवाद नहीं, वरन् वैदिक यथार्थ-वाद है। संसार में जिस समय वेद का प्रचार था, इतिहास बताता है, उस समय संसार में प्रभूत शान्ति और निरन्तर समृद्धि विराजती थी। ऋषियों का सिद्धान्त है कि 'वेद सब सत्य विद्याओं का पुस्तक है।' इस आर्ष वाक्य का मूल 'पावमानीर्दधन्तु नः—' मन्त्र है, जिस में बताया गया है कि वेद हमारे लिए इस लोक और परलोक की कमाई का साधन है। सोचिए, विद्याओं के दो विभाग किये जा

सकते हैं, १. इस लोक से सम्बन्ध रखने वाली तथा २. परलोक-सम्बन्धी। लोकव्यवहार चलाने के लिए लौकिक विद्याओं का अभ्यास आवश्यक है, और परलोक-साधना के लिए पारलौकिक विद्या की अपेक्षा होती है। इन्हीं विद्याओं के द्वारा दोनों लोकों का अर्जन हो सकता है। वेद की ऋचाएं इन दोनों लोकों को धारण करती हैं, अतः वे सुतरां दोनों प्रकार की विद्याओं का आकर सिद्ध होती हैं। संसार में सुख समृद्धि तथा शान्ति का प्रसार करने के लिए वेद के पुनः प्रचार की बड़ी आवश्यकता है।

श्रद्धा

श्रद्धा हृदय की एक सूक्ष्म, पवित्र, उच्चतम भव्य भावना है। जिस मनुष्य में श्रद्धा होती है वह शान्ति का भण्डार तो होता ही है, किन्तु वह अपनी धुन का धनी भी होता है। संसार में श्रद्धा के सम्बन्ध में बहुत भ्रम फैला हुआ है। कई मनुष्यों की यह धारणा है कि श्रद्धा और तर्क का पारस्परिक विरोध है। वे कहते हैं श्रद्धा और तर्क एक साथ नहीं रह सकते। जहाँ श्रद्धा होगी, वहाँ तर्क नहीं रह सकेगा; और तार्किक श्रद्धालु नहीं हो सकता। यह धारणा सर्वथा भ्रान्त और मिथ्या है। श्रद्धा का वास्तविक अर्थ=स्वरूप न जानने के कारण यह धारणा फैली है। श्रद्धा का वास्तविक अर्थ जानने के लिए इस प्रकरण में दिए—दृष्ट्वा रूपे—' मन्त्र का मनन कीजिए। सत्य पर दृढ़ रहने का नाम श्रद्धा है। सत्य प्राप्ति तो तर्क और परीक्षा से होती है, अतः तर्क और श्रद्धा का विरोध नहीं हो सकता।

श्रद्धा

श्रद्धयाग्निः समिध्यते श्रद्धया हूयते हविः।
श्रद्धां भगस्य मूर्धनि वचसा वेदयामसि॥
ऋ० १०।१५१।१॥

(श्रद्धया) श्रद्धा के साथ (अग्निः) अग्नि (सम्-इध्यते) प्रदीप्त किया जाता है। (श्रद्धया) श्रद्धा से (हविः) हवनसामग्री (हूयते) होमी जाती है, डाली जाती हैं। (श्रद्धाम्) श्रद्धा को (भगस्य) (भगस्य) ऐश्वर्य्य के (मूर्धनि) माथे पर=मुख्य स्थान में (वचसा) प्रशंसापूर्वक (वेदयामासि) हम जतलाते हैं।

श्रद्धा का अर्थ है—श्रद्+धा=सत्य का धारण करना। पहले ठीक-ठीक सत्य को जाना जाए, और फिर सत्य को जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में धारण किया जाए, यह श्रद्धा की वास्तविक दृढ़ भूमि हो सकती है। इस श्रद्धा=आस्था से विरहित होकर क्रिया कार्य्य सफल ही नहीं हो सकता। जब किसी कार्य्य पर मनुष्य को श्रद्धा होती है, तब वह अपना पूरा सामर्थ्य उसकी सिद्धि में लगा देता है। इसी वास्ते मन्त्र के उत्तरार्द्ध में श्रद्धा को ऐश्वर्य्य का मूर्धस्थानी माना है। अतः मनुष्य को श्रद्धा से भरपूर होना चाहिए।

प्रियं श्रद्धे ददतः प्रियं श्रद्धे दिदासतः।
प्रियं भोजेषु यज्वस्विदं म उदितं कृधि॥

ऋ० १०।१५१।२॥

(श्रद्धे) हे श्रद्धा! (ददतः) देने वाले का (प्रियम्) प्रिय=भला, (श्रद्धे) [और] हे श्रद्धा! (दिदासतः) देने के इच्छुक का [भी] (प्रियम्) भला हो। (भोजेषु) भोजों में=भोजन कराने वालों में (यज्वसु) यज्ञ कराने वालों में (मे) मेरा (इदम्) यह (प्रियम्) प्यारा (उदितम्) उदय, अभ्युदय (कृधि) कर, करा।

जो श्रद्धापूर्वक देता है, उसका भला होने में तो कोई सन्देह ही नहीं। जिनके पास देने को कुछ नहीं, किन्तु श्रद्धा के कारण देने की इच्छा जिनमें है, उनका भी अवश्य भला होता है। इस भाव को सामने रखकर उपनिषद् में कहा गया है—'श्रद्धया देयम्' (तै. उ.)। मनुष्य को चाहिए कि भूखों को भोजन दे, यज्ञ करे, लोकोपकार

करे ; इस प्रकार के दाताओं और याज्ञिकों में श्रद्धायुक्त दान आदि के द्वारा अपना स्थान ऊँचा बनाने का सत्प्रयत्न करे। श्रद्धा से कर्म्म करने के कारण मनुष्य का यश बढ़ता है।

यथा देवा असुरेषु श्रद्धामुग्रेषु चक्रिरे ।
एवं भोजेषु यज्वस्वस्माकमुदितं कृधि ॥

ऋ० १० । १५१ । ३ ॥

(यथा) जैसे (देवाः) देव, विद्वान्, निष्काम महात्मा (उग्रेषु) तेजस्वी (असुरेषु) असुरों पर=प्राण देने वालों पर (श्रद्धाम्) श्रद्धा, भक्ति (चक्रिरे) करते हैं (एवं) ऐसे ही (भोजेषु) भोजन कराने वालों में (यज्वसु) [और] यज्ञ करने कराने वालों में (अस्माकम्) हमारा (उदितम्) उदय (कृधि) कर-करा।

जो देश के लिए, जाति के लिए, धर्म्म के लिए, किसी सत्कार्य्य के लिए अपने प्राण तक न्यौछावर कर देते हैं, ऐसे तेजस्वी तो विद्वानों तक के श्रद्धाभाजन होते हैं। किसी कार्य्य के लिए प्राण तभी दिए जा सकते हैं, जब उस कार्य्य के लिए हृदय में श्रद्धा हो। तात्पर्य्य यह कि श्रद्धा इतना बड़ा बल पैदा कर देती है कि मनुष्य सिर धड़ की बाज़ी लगाने को तत्पर हो जाता है। मनुष्य को चाहिए कि अपने अन्दर श्रद्धा का श्रेष्ठ भाव सदा जागरूक रखे, और श्रद्धेय कार्य करने वालों का सदा आदर-सत्कार करता रहे। अधिक न हो सके तो भूखों को भोजन, नंगों को वस्त्र आदि दे, किन्तु श्रद्धा प्रीति और सत्कार से दे। इस प्रकार देने से उसका अभ्युदय होगा।

श्रद्धां देवा यजमाना वायुगोपा उपासते ।
श्रद्धां हृदय्ययाकूत्या श्रद्धया विन्दते वसु ॥

ऋ० १० । १५१ । ४ ॥

(देवाः) ऋत्विक्, विद्वान्, निष्काम महात्मा (यजमानाः) यजमान, यज्ञ करने-कराने वाले (वायुगोपाः) प्राणवायु से रक्षित

(श्रद्धाम्) श्रद्धा को (उपासते) उपासते हैं, सेवन करते हैं (हृदय्यया) हृदय में होने वाली (आकूत्या) आकूति, उच्च भावना के द्वारा (श्रद्धाम्) श्रद्धा को (श्रद्धया) [और] श्रद्धा से (वसु) धन को (विन्दते) प्राप्त करते हैं।

यज्ञ करने वाले, वायु से रक्षित=प्राणायाम के अभ्यासी सज्जन यज्ञ और प्राणायाम का साधन श्रद्धा के अधीन होकर करते हैं। किसी को यज्ञ या प्राणायाम करते देखा, और उससे उसका लाभ होते भी देखा, तो मनुष्य के हृदय में उसके अनुष्ठान की भावना उत्पन्न होती है, और यह भी यज्ञ या प्राणायाम का अभ्यास करने लगता है। श्रद्धा का मूल हृदय की उच्च भावना है। श्रेष्ठ हार्दिक भाव श्रद्धा के उत्पादक होते हैं। श्रद्धा के कारण मनुष्य को धन मिलता है। धन आध्यात्मिक भी होता है, और भौतिक भी। सदाचार, सद्विचार, अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य आदि सात्विक भाव आत्मिक विभूतियाँ आध्यात्मिक धन हैं। भौतिक धन से सभी परिचित हैं। पहले मन्त्र के साथ मिलाकर पढ़िये, तो सारा भाव स्पष्ट हो जाए।

श्रद्धां प्रातर्हवामहे श्रद्धां मध्यन्दिनं परि ।
श्रद्धां सूर्य्यस्य निम्रुचि श्रद्धे श्रद्धापयेह नः ॥

ऋ० १० । १५१ । ५ ॥

(श्रद्धाम्) [अतः] श्रद्धा को (प्रातः) प्रातःकाल (हवामहे) हम बुलाते हैं, चाहते हैं, (श्रद्धाम्) श्रद्धा को (मध्यन्दिनं) दो पहर के समय (परि) सब ओर से [चाहते हैं] (सूर्य्यस्य) सूर्य्य के (निम्रुचि) अस्त होने पर [चाहते हैं]। (श्रद्धे) हे श्रद्धा! (इह) इस संसार में, इस जीवन में (नः) हम सबको (श्रद्धापय) श्रद्धायुक्त कर।

जिस श्रद्धा के कारण मनुष्य प्राण न्योछावर करने पर उतारू

हो जाता है, जिस श्रद्धा के कारण मनुष्य शुभ और पवित्र कर्मों में प्रवृत्त होता है, हृदय के अन्तस्तल में रहने वाली वह श्रद्धा सारा दिन बनाए रखनी चाहिए। चाहे भगवान् का भजन और आत्म-चिन्तन हो और चाहे अर्थसंचय का प्रश्न हो, श्रद्धा के बिना यह निकम्मे और थोथे होते हैं, और इसी कारण विफल होते हैं। इस वास्ते मनुष्य को सांसारिक और पारमार्थिक व्यवहारों में सफलता प्राप्त करनें के लिए श्रद्धा को अपनाना चाहिए। इसी में मनुष्यों का भला है।

व्रतेन दीक्षामाप्नोति दीक्षयाप्नोति दक्षिणाम् ।
दक्षिणा श्रद्धामाप्नोति श्रद्धया सत्यमाप्यते ॥

य० १९। ३०॥

(व्रतेन) व्रत के द्वारा (दीक्षाम्) उत्तम अधिकार को (आप्नोति) [मनुष्य] प्राप्त करता है। (दीक्षया) [और] दीक्षा से=उत्तम अधिकार के द्वारा (दक्षिणाम्) दक्षिणा को, सत्कार को, उत्साह को (आप्नोति) प्राप्त करता है। (दक्षिणा) [और] दक्षिणा से (श्रद्धाम्) श्रद्धा को (आप्नोति) प्राप्त करता है। (श्रद्धया) [और] श्रद्धा से (सत्यम्) सत्य (आप्यते) प्राप्त किया जाता है।

व्रत-धारण=नियम-धारण से मनुष्य को उत्तम अधिकार, योग्यता प्राप्त होती है। योग्यता से मनुष्य का आदर-सत्कार होता है। आदर-सत्कार के कारण मनुष्य को सत्य पर श्रद्धा, निष्ठा=आस्था उत्पन्न होती है। उस आस्था के कारण मनुष्य सत्य को पा लेता है।

हमनें ऋ० १०। १५१। १ की व्याख्या में श्रद्धा का अर्थ किया है—'सत्य का धारण करना'। उसी भाव का वर्णन श्रद्धया सत्यमाप्यते' में है। मनुष्य का श्रद्धायुक्त होना सत्य का धारण करना है।

दृष्ट्‌वा रूपे व्याकरोत् सत्यानृते प्रजापतिः ।
अश्रद्धामनृतेऽदधाच्छ्रद्धां सत्ये प्रजापतिः ॥
य० १९ । ७७ ॥

(प्रजापतिः) परमेश्वर (दृष्ट्वा) देखकर; साक्षात्कार द्वारा (सत्यानृते) सत्य और झूठ (रूपे) दो रूप, लक्षण (व्याकरोत्) पृथक्-पृथक् करता है (प्रजापतिः) परमेश्वर (अनृते) झूठ में (अश्रद्धाम्) अश्रद्धा (अदधात्) धारण कराता है (सत्ये) [और] सत्य में (श्रद्धाम्) श्रद्धा [धारण कराता है] ।

हमनें पीछे लिखा है कि सत्यधारण का नाम श्रद्धा है । इस मन्त्र के अर्थों पर दृष्टि डालिये, आपको हमारे कथन की पुष्टि मिलेगी । प्रमाणादि से सुपरीक्षित, पक्षपातरहित सत्य ही श्रद्धा करने और माननें योग्य है । असत्य=अनृत=प्रत्यक्षादि प्रमाणों से विरुद्ध, पक्षपातपूर्ण का सदा त्याग करना चाहिए । सच्चा श्रद्धालु वही है, जो सत्य के ग्रहण करने और असत्य के त्यागनें में सदा तत्पर रहता है ।

सत्य और असत्य इन दोनों के रूप=लक्षण=चिह्न पृथक्-पृथक् हैं । सत्य ऋजु=सरल और सृष्टि-नियम के अनुकूल होता है । सत्याचरण करने से आत्मा में उत्साह पैदा होता है । असत्य कुटिल टेढ़ा होता और वस्तुस्थिति के प्रतिकूल होता है । असत्याचरण करते समय चित्त में लज्जा, संकोच और भय उत्पन्न होते हैं । लज्जा, संकोच और भय मानो हमें असत्याचरण से रोकते हैं । लज्जा, संकोच और भय ने ही असत्य को अश्रद्धेय सिद्ध कर दिया । उसके विपरीत सत्याचरण से होनें वाले उत्साह नें सत्य को श्रद्धा की वस्तु बना दिया ।

—*—

स्तुतिप्रार्थनोपासनामन्त्र

इन मन्त्रों से एकान्त में स्वान्तःकल्याण के लिए जहाँ आराधना की जाती है, वहाँ संस्कारों, उत्सवों, सत्संगों आदि में भी इन मन्त्रों द्वारा भगवान् की स्तुति-प्रार्थना उपासना करनी चाहिए। महर्षि लिखते हैं—

> "सब संस्कारों के आदि में निम्नलिखित मन्त्रों का पाठ और अर्थद्वारा एक विद्वान् वा बुद्धिमान् पुरुष ईश्वर की स्तुति, प्रार्थना और उपासना स्थिरचित्त होकर परमात्मा में ध्यान लगाके करे और सब लोग उसमें ध्यान लगाकर सुनें और विचारें।"
>
> —संस्कारविधि, पृष्ठ ४

ओ३म्

विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परासुव ।
यद्भद्रं तन्न आसुव ॥ य० । ३० । ३ ॥

(सवितः) हे संसार के उत्पन्न करने वाले, संसार के शासन करने वाले, संसार को शुभ प्रेरणा देने वाले, (देव) दिव्यगुणयुक्त परमेश्वर ! (विश्वानि) सब (दुरितानि) बुराइयों को, दुरवस्थाओं को (परा+सुव) दूर कीजिए । (यत् भद्रम्) जो भला [है] (तत् नः) वह हमें (आसुव) दीजिये ।

विनय

हे परम देव परमात्मन् ! चराचर के उत्पादक धारक पालक ! स्थावरजंगम, जड़चेतन विश्वब्रह्माण्ड के स्वामिन् ! सबको शुभ प्रेरणा देने वाले ! सबको सुमार्ग दिखाने वाले ! सर्वहितकारिन् !

मंगलमूल प्रभो! स्वामिन्! हममें अनेक त्रुटियाँ हैं, नाना दोष हैं। प्रभो! हम अनेक दुर्व्यसनों, दुर्भावनाओं से भर रहे हैं। इन त्रुटियों, न्यूनताओं, दुर्बलताओं, दुर्विचारों, दुष्ट आचारों के कारण हमारी बहुत ही दुरवस्था एवं दुर्गति हो रही है। हे दुर्बलों के बल! हे अधमोद्धारक! हे पतितपावन भुवनभावन विभो! हमारा इस दुःखद दशा से तुम ही उद्धार कर सकते हो। नाथ! तुम तो अकारण कृपालु हो, हमारा निस्तार करो। इस पाप-पंक से हमारा उद्धार करो। हे शुभदातः! सुखविधातः! अपनी अपार करुणा से हमें अभद्र से दूर रखकर भद्र से, शुभ से, सर्वहित से युक्त कीजिये। नाथ! आपकी कृपा-बिना यह कैसे होगा? महादानी! कृपा का एक कण!

हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्।
स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम॥

य० १३।४॥

(हिरण्यगर्भः) प्रकाशस्वरूप, प्रकाशकों का आधार परमेश्वर (अग्रे) सृष्टि से पूर्व (समवर्त्तत) एक रस था, एक रस रहता है। (जातः) [वह] प्रसिद्ध (भूतस्य) संसार का (एक) अद्वितीय (पतिः) स्वामी (आसीत्) है। (सः) वह [परमेश्वर] (पृथिवीम्) पृथिवी को, प्रकाशशून्य जगत् को (उत्) और (इमाम् द्याम) इस द्यौ को, प्रकाशमय संसार को (दाधार) धारण करता है। (कस्मै) [उस] आनन्दस्वरूप (देवाय) परमेश्वर के लिए (हविषा) श्रद्धा-भक्तिरूप हवि के द्वारा (विधेम) हम सेवा करें, विशेष भक्ति करें।

विनय

हे ज्योतियों की ज्योति परमज्योति परमात्मन्! जब यह ब्रह्माण्ड नहीं था, तब भी आप एकरस विराजमान थे। जब यह इस रूप में नहीं रहेगा, तब भी आपकी सत्ता अबाधित रूप में बनी

रहेगी। सूर्य्य, चन्द्र, तारे, ग्रह, उपग्रह, नक्षत्र आदि आदि ज्योतिःपुञ्ज और ज्योर्निहीन लोक सब-के-सब आपके आधार से हैं। प्रभो! तुम इनके उत्पादक, धारक, पालक ही नहीं हो वरन् तुम तो इन सब के स्वामी भी हो। हे सर्वस्वामिन्! अन्तर्यामिन् भगवन्! आप की दयामाया से हमें इन लोकालोक लोकों के द्वारा नाना प्रकार के भोग प्राप्त हो रहे हैं। प्रभो! जीवनाधार! हम तेरी अर्चा करना चाहते हैं। कैसे करें? क्या भेंट धरें? स्वामिन्! हमारे पास हमारा अपना तो कुछ भी नहीं है, सब तेरा दिया हुआ है। और प्रभो! हम भी तो आप ही के हैं। अतः प्रभो! हम कृतज्ञता-प्रकाश के लिए श्रद्धा की भेंट धरते हैं। प्रियतम! अपनी प्रीति का उपहार प्रस्तुत करते हैं। प्रभो! तेरा दिया तेरे आगे धरते हैं। तू तो निष्काम है, आप्तकाम है। तुझे न किसी वस्तु की आवश्यकता, न अपेक्षा। हमारी लालसा है, अतः प्रभो! अत्यन्त आस्था और विनम्रता से हम अपनी भक्ति की भावना तेरे अर्पण करते हैं।

य आत्मदा बलदा यस्य विश्व उपासते प्रशिषं यस्य देवाः ।
यस्यच्छायाऽमृतं यस्य मृत्युः कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥
य० २५ । १३ ॥

(यः) जो (आत्मदाः) आत्मा का दाता, मन, देह का दाता (बलदाः) [और, शारीरिक, आत्मिक, सामाजिक] बल का दाता है, (विश्वे) संपूर्ण जन (यस्य) जिसकी (उपासते) उपासना करते हैं। (देवाः) विद्वान् धर्म्मात्मा (यस्य) जिसके (प्रशिषम्) उत्तम शासन को श्रेष्ठ शिक्षा को [मानते हैं] (यस्य+छाया) जिसका आश्रय (अमृतम्) जीवन [है और] (यस्य) जिसका [न मानना] (मृत्युः) मौत [है] (कस्मै) [उस] आनन्दघन (देवाय) दिव्य सुखदाता के लिए (हविषा) पूरे सामर्थ्य से (विधेम) विशेष पूजा करें।

विनय

हे निर्बलों के बल! चेतनों के चेतन! यह सारा संसार तेरे शासन में चल रहा है। किसी का क्या सामर्थ्य, जो तेरे नियम को उल्लंघन कर सके। बड़े-बड़े ज्ञानी ध्यानी महात्मा तेरा ही ध्यान, मनन, चिन्तन करते हैं। तेरी उपासना-आराधना से वे ऐसा बल पाते हैं, जिसकी उपमा कहीं नहीं। आत्मा को भोग के साधन शरीर, मन, इन्द्रियाँ तू ही प्रदान करता है। हे महादानी! तेरे दान का कौन बखान कर सकता है? सम्पूर्ण विश्व तेरे दान की गौरव-गरिमा का गान कर रहा है। जीवनाधार! विश्व संसार का तुझी से जीवन है। जिन्होंने तुझे अपनाया, जो तेरी छत्रछाया में आ गये, वे तर गये। मौत उनसे डर गई। चिरजीवन के वे अधिकारी हो गये। तुझसे विमुख अभागों को जीवनसुख कहाँ! हाय! वे तेरे मूढ अभागे पुत्र पुनः-पुनः मौत का शिकार हो रहे हैं, जन्म-मरण के शिकार हो रहे हैं। उनकी अवस्था है—'पुनरपि जननं पुनरपि मरणम्। पुनरपि जननीजठरे शयनम्।' हे त्रातः! दुःखविनाशक! तार। बचा, उनको भी अपना! जन्म-मृत्यु के चक्र से उनको भी छुड़ा। दीनदयालो! करुणावरुणालय! करुणा कर। कृपा कर। हमें अपनी भक्ति का, अनवरत अनुरक्ति का, अमाया श्रद्धा का, गहरी निष्ठा का उत्तम दान दे। वन्द्येश्वर! हम तेरे भक्त बनें।

यः प्राणतो निमिषतो महित्वैक इद्राजा जगतो बभूव ।
य ईशे अस्य द्विपदश्चतुष्पदः कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥

य० २३ । ३ ॥

(यः) जो (महित्वा) महिमा के कारण (एकः+इत्) अकेला ही (प्राणतः) प्राणवाले [और] (निमिषतः) प्राणरहित चेष्टावाले (जगतः) संसार का (राजा) प्रकाशक, राजा (बभूव) है, [और] (यः) जो (अस्य) इस (द्विपदः) दो पैर वाले मनुष्यादि का

(चतुष्पदः) [और] चौपायों का (ईशे) स्वामी है, रचन करता है, (कस्मै) [उस] आनन्दस्वरूप (देवाय) आनन्द देने वाले भगवान् के प्रति (हविषा) सब सामग्री से (विधेम) विशेष भक्ति करें।

विनय

हे महामहिममण्डित! अतुलपराक्रम वाले प्रभो! तेरी महत्ता का, महिमा का पार कौन पा सकता है! यह चर और अचर सृष्टि, यह स्थावर-जंगम संसार, यह सप्राण-निष्प्राण जगत् तेरी महत्ता, तेरी बड़ाई का पता दे रहा है। यह चराचरात्मक विश्वब्रह्माण्ड मानो तेरे गुणगण की गणना में तत्पर है। प्रभो! इस विशाल, अति विस्तृत संसार का ही पार मनुष्यबुद्धि नहीं पा सकती। तेरा जिसने यह सारा संसार रचा है, प्रकाशित किया है, कैसे पार पावे, कैसे पता लगावे? हे स्थावरजंगम के प्रकाशक! तू ही प्रकाश दे, जिससे हम तुझे पा सकें। प्रभो! हमें पता लग गया है, तू ही हमारे शरीरों, तथा शरीरोपयोगी उपभोगसामग्री का रचने वाला है। अहो प्रभो! तेरी कृपा कितनी बड़ी है! स्वामिन्! तू ही हमारे शरीरों तथा शरीर के उपकरणों का अधीश्वर है। नाथ! मेरा तो कुछ भी नहीं। अतः प्राणनाथ! तेरा दिया ही तेरे अर्पण करता हूँ। त्वदीयं वस्तु प्राणेश तुभ्यमेव समर्पये। दीनानाथ! स्वीकार करो, स्वीकार करो। और मेरा, तथा इस जगत् के प्राणियों का उद्धार करो, निस्तार करो।

येन द्यौरुग्रा पृथिवी च दृढा येन स्व स्तभितं येन नाकः।
यो अन्तरिक्षे रजसो विमानः कस्मै देवाय हविषा विधेम॥
य० ३२।६॥

(येन) जिसने (उग्रा) उग्र तीव्र प्रकाशयुक्त (च) और (पृथिवी) पृथिवी = परतः प्रकाशलोक (दृढा) दृढ कर रखे हैं, (येन+स्वः) जिसने आनन्द, सुख, (स्तभितम्) थाम रखा है, (येन) जिसने

(नाकः) दुःखरहित मोक्ष [धारण कर रखा है] (यः) जो (अन्तरिक्षे) अन्तरिक्ष में, पोल में, अनन्त अवकाश में, (रजसः) लोकों को (विमानः) विशेषरीति से बनाता है (कस्मै) [उस] आनन्ददायक (देवाय) चाहने योग्य प्रभु के लिए (हविषा) सामर्थ्य से (विधेम) हम विशेष भक्ति करें।

विनय

भगवान्! तेरी कृपा, तेरी दया के गुण कहाँ तक हम गायें! प्रभो! तू हमारे लिये संपूर्ण सुखसामग्री का विधान करता है। परेश! पिता! हमारे सुखसंविधान के लिए ही तूने यह शस्यश्यामला विशाल मही भूमि रची। नाना प्रकार के प्रकाशों, सूर्य्य ग्रहनक्षत्रादि नाना तेजःपुंजों से देदीप्यमान, अविरल प्रकाशमान द्यौलोक भी तो हमें प्रकाश देने, आलोक देने के लिए ही तूने रचा। तू आनन्दकन्द है। दुःखलेश भी तो तुझमें नहीं। तूने यह संसार हमारे लिए बनाया। प्रभो! हम साँसारिक सुख और पारलौकिक मोक्ष पा सकें, इसके लिए तूने सारी रचना रची है। प्रभो! हम मूर्ख हैं, अज्ञानी हैं, इस तेरे अमृत-भरे संसार में, सुधा बरसाने वाले जगत् में अपने कुकर्मों से विष घोल रहे हैं विष! दुःख भी फिर हम ही पाते हैं। अये विमानसमान अन्तरिक्ष में लोकों को स्थापित करने वाले! हमारे हृदय को भी हलका कर। वे उड़कर, इस संसार से ऊपर उठकर तेरे पास पहुँचें, तेरे बिना हमें कहीं सुख, आनन्द शान्ति नहीं मिलने की।

प्रजापते न त्वदेतान्यन्यो विश्वा जातानि परि ता बभूव।
यत्कामास्ते जुहुमस्तन्नो अस्तु वयं स्याम पतयो रयीणाम्॥
ऋ० १०।१२१।१०॥

(प्रजापते) हे सब प्रजा के स्वामिन्! (त्वत्) तुझ से (अन्यः) अन्य (ता) उन (एतानि) इन (जातानि) उत्पन्न पदार्थों का

न+परि+(बभूव) वशकारी नहीं है। (यत्कामाः) जिस अभिलाषा वाले (जुहुमः) [तुझे] हम पुकारें (तत्) वह (नः) हमारी [कामना] (अस्तु) [सिद्ध] हो। (वयम्) हम (रयीणाम्) धनों के (पतयः) पति, स्वामी (स्याम) होवें।

विनय

प्रजापते! जब इस सृष्टि को उत्पन्न ही तू करता है, निर्माण धारण पोषण पालन भी तू ही करता है, तब नाथ! तेरे बिना इसका स्वामी कोई और कैसे हो सकता है? प्राणियों के प्राण! शरीर तू बनाता है। प्राणियों के प्राणनसाधन, जीवन की सामग्री तू बनाता है। चेतन जीव को उसकी भोगप्राप्ति और मोक्षलाभ के लिए तू ही जड़ प्रकृति से मिलाता है। अवश्य ही ये जड़-चेतन तेरे अधीन हैं, तेरे अधिकार में हैं। तू ही इनका स्वामी, ईश्वर और अधिपति है। हे विधातः! तू अपनी विधानशक्ति से विविध प्रकार की सृष्टिरचना करता है। आत्मा ने अपने कर्म्मद्वारा जैसी और जिस प्रकार की भली या बुरी इच्छा की, तूने उसकी इच्छा अवश्य पूरी की, वैसी सामग्री उसे उपस्थित कर दी। अये सबकी शुभ कामनाओं के पूरा करने वाले कामद पितः! हमें विश्वास है तू किसी को हताश नहीं करता। तेरे द्वार से कोई भी निराश नहीं लौटा। प्रभो! हम एक आशा, अभिलाषा लेकर तेरे द्वार पर आए हैं। हमें एक कामना ने आ घेरा है, हममें धन की, सुधन की, संसार के ऐश्वर्य की, परमार्थ की, सम्पत्ति की प्राप्ति की लालसा जगी है। वह तेरी कृपा बिना पूरी नहीं हो सकती। हे सहज कृपालो! अकारण दयालो! हमारी यह कामना, यह भावना अवश्य पूरी कर प्रभो! अवश्य पूरी कर।

स नो बन्धुर्जनिता स विधाता धामानि वेद भुवनानि विश्वा।
यत्र देवा अमृतमानशानास्तृतीये धामन्नध्यैरयन्त॥
य० ३२। १०॥

(सः) वह (नः) हमारा (बन्धुः) बन्धु (जनिता) उत्पादक [है] । (सः) वही (विधाता) निर्माता, विधान करने वाला (विश्वा) संपूर्ण (धामानि) नामों, स्थानों, जन्मों को (भुवनानि) [और] लोकों को (वेद) जानता है (यत्र) जिस परमात्मा में (अमृतम्) मोक्ष को (आनशानाः) प्राप्त करते हुए (देवाः) मुक्त जीव (तृतीये) तीसरे [संसार के सुख-दुःख से न्यारे] (धामन्) धाम [मोक्ष] में (अधि+ऐरयन्त) अधिकारपूर्वक विचरते हैं ।

विनय

प्रभो ! हम सहायक की खोज में भटक रहे थे । हमें कोई संगी-साथी न मिलता था । प्रभो ! तेरे भक्त सद्गुरु ने बताया, तू हमारा सच्चा बन्धु है। तू हमारा निरन्तर सखा है । सचमुच सखे ! हमने देख लिया है, तू ही हमारा बन्धु है । माता-पिता रुष्ट हो जाते हैं, रुष्ट होकर कभी-कभी घर से भी निकाल देते हैं । परन्तु धन्य हो परमात्मन् ! तुम हमसे कभी रूठते ही नहीं, अतः कभी हमारा त्याग भी नहीं करते। सदा हमारे अंगसंग रहते हो । सदा अपने उत्संग में रखते हो । साँसारिक माता-पिता, बन्धु-भ्राता अवश्य अपने किसी स्वार्थ को सामने रखकर ही हमसे प्यार करते हैं, किन्तु आप तो किसी कारण के बिना, किसी स्वार्थ के बिना प्रेम करते हो, तुम्हारा प्रेम अनुपम है । माता-पिता के शयनकाल में, अनवधान-समय में आप ही बालकों की रक्षा करते हो । सबकी रक्षा तुम्हारे द्वारा होती है । प्रभो ! हम अज्ञ हैं ; हमें तो अपना भी ज्ञान नहीं है ; किन्तु तुम तो सर्वज्ञों के सर्वज्ञ हो । हे ज्ञानिशिरोमणे ! कौन-सा स्थान है, कौन-सा पदार्थ है जिसे तुम नहीं जानते ? हे अनन्तज्ञान-महामहिमावान् भगवन् ! मुक्त आत्मा तुझ ही में विचरते हुए मोक्षानन्द का उपभोग करते हैं । हे पितः ! क्या हमें तेरी कृपा का कण न मिलेगा ?

अग्ने नय सुपथा राये अस्मान् विश्वानि देव वयुनानि विद्वान् ।
युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो भूयिष्ठान्ते नमउक्तिं विधेम ॥
य० ४० । १६ ॥

(अग्ने) हे सब को आगे ले जाने वाले सर्वप्रकाशक प्रभो ! (अस्मान्) हमको (राये) ऐश्वर्य्य-प्राप्ति के लिए (सुपथा) सुमार्ग से (नय) चला। (देव) हे देव ! अन्तर्यामिन् ! ईश्वर ! (विश्वानि) [हमारे] सब (वयुनानि) विचारों-आचारों को (विद्वान्) [आप] जानते हैं। (अस्मत्) हमसे (जुहुराणम्) कुटिलतामय (एनः) पाप को (युयोधि) पृथक् कर, (ते) तुझे (भूयिष्ठाम्) बहुत बड़ी, सर्वश्रेष्ठ नमः+(उक्ति) नमस्कार-उक्ति, नम्रता के वचन (विधेम) हम अर्पण करें।

विनय

हे परमात्मन् ! सबके अन्तरात्मन् ! मेरा क्या लक्ष्य है, मुझे कहाँ जाना है, इसका पूर्णज्ञान तुझे ही है। उसका मार्ग भी तू ही जानता है, मैं तो अज्ञ हूँ, निपट मूर्ख हूँ। मैं चलने से डरता हूँ कि कहीं भटक न जाऊँ, कहीं मार्ग न भूल जाऊँ। तू मार्गदर्शक है। तू पथिकृत् कहाता है। मेरे लिए भी मार्ग बना, मुझे भी राह बता। तू ही सुमार्ग पर चला सकता है। स्वामिन् ! मुझे ज्ञात नहीं, मुझमें क्या-क्या त्रुटियाँ हैं, कौन-कौन से दोष हैं। मेरे अन्तरंग-बहिरंग—अन्दर-बाहर—को तू जानता है। मेरे विचारों-आचारों को, हृदय-गुफ़ा के अन्धकार में विलीन संस्कारों तक को, तू जानता है। अये मेरे आत्मा के आत्मन्, अन्तरात्मन् ! तुझसे मेरा कुछ भी नहीं छिपा। अतः तू ही मेरे दोषों को, मेरी न्यूनताओं को, मेरी कुटिलताओं को, मेरे पापों को हटा। हे सर्वरक्षक ! बचा। मुझे मेरे पापों से तज्जन्य तापों से बचा। मैं तेरी शरण आता हूँ। हे अशरण-शरण ! सबको परम लक्ष्य तक ले जाने वाले प्रभो ! हे अविद्यान्ध-

कारविनाशक ! विद्या के प्रकाशक ! हे सद्गुण प्रापक, दुर्गुण-नाशक ! हे शुद्धबुद्धमुक्तस्वभाव ! कल्याणनिलय ! शर्मद ! हे मोक्ष के दातः ! हे सबके उन्नतिसाधक हे परमैश्वर्यविधायक परमेश्वर ! हे शरण्य ! हे वरेण्य ! रक्षाकर ! प्रभो ! मैं अकिंचन हूँ, दरिद्र हूँ। तेरी भेंट क्या धरूँ ? अपना-आपा तेरे अर्पण करता हूँ। झुक-झुक-कर तुझे प्रणाम करता हूँ। नमस्काराञ्जलि तुझे अर्पण करता हूँ। मुझे अपना ले, मेरा आपा गँवा दे। प्रभो ! तुझे भूयोभूयः प्रणाम ! शतशः नमस्कार !

—❀—

प्रातःकालिक प्रार्थनामंत्र

ऋषि का आदेश—

सदा स्त्री-पुरुष १० (दश) बजे शयन और रात्रि के पिछले प्रहर वा ४ बजे उठके प्रथम हृदय में परमेश्वर का चिन्तन करके धर्म्म और अर्थ का विचार किया करें और धर्म और अर्थ के अनुष्ठान वा उद्योग करने में यदि कभी पीड़ा भी हो तथापि धर्म्मयुक्त पुरुषार्थ को कभी न छोड़ें, किन्तु सदा शरीर और आत्मा की रक्षा के लिए युक्त आहार-विहार, औषधसेवन, सुपथ्य आदि से निरन्तर उद्योग करके व्यावहारिक और पारमार्थिक कर्त्तव्य कर्म्म की सिद्धि के लिए ईश्वर की स्तुति, प्रार्थना, उपासना भी किया करें कि जिससे परमेश्वर की कृपादृष्टि और सहाय से महाकठिन कार्य भी सुगमता से सिद्ध हो सकें। इसके लिए निम्नलिखित मन्त्र हैं—

—संस्कारविधि पृ० १८९

प्रातरग्निं प्रातरिन्द्रं हवामहे प्रातर्मित्रावरुणा प्रातरश्विना ।
प्रातर्भगं पूषणं ब्रह्मणस्पतिं प्रातः सोममुत रुद्रं हुवेम ॥
ऋ० ७।४१।१॥

(प्रात) प्रभात समय में (अग्निम्) परमात्मा की प्रकाशक शक्ति को (प्रातः) [और] प्रातः ही (इन्द्रम्) ईश्वर की ऐश्वर्य्य शक्ति को (हवामहे) हम बुलाते हैं, चाहते हैं, (प्रातः) प्रातः समय (मित्रावरुणा) प्राण और उदान को (प्रातः) [और] प्रातः ही (अश्विना) अश्वियों को=परमात्मा की लोकालोक शक्तियों को [बुलाते हैं] (प्रातः) प्रातःकाल में (भगम्) भजनीय, सेवनीय (पूषणम्) पुष्टि देने वाले (ब्रह्मणः+पतिम्) ब्रह्माण्ड और ज्ञान के स्वामी को (प्रातः) [तथा] प्रातः ही (सोमम्) सौम्यस्वभाव (उत) और (रुद्रम्=रुद्र) उग्र स्वभाव को (हुवेम) चाहते हैं।

प्रातर्जितं भगमुग्रं हुवेम वयं पुत्रमदितेर्यो विधर्त्ता ।
आध्रश्चिद्यं मन्यमानस्तुरश्चिद्राजा चिद्यं भगं भक्षीत्याह ॥
ऋ० ७।४१।२॥

(यः विधर्त्ता) जो विविध लोकों का धारक [है] (चित्) आदरणीय (आध्रः) सब प्रकार से धारण करने योग्य (मन्यमानः) माननीय (तुरः) शीघ्रकारी (राजा चित्) प्रकाशमान भी, (भक्षि) 'मैं सेवन करूँ' (इति आह) ऐसा कहता है (प्रातः जितम्) [उस] प्रातः प्राप्त करने योग्य (उग्रम्) तेजस्वी (अदितेः) अदिति के= प्रकृति के (पुत्रम्) पुत्र को (वयम्) हम (हुवेम) बुलाते हैं, चाहते हैं।

भग प्रणेतर्भग सत्यराधो भगेमां धियमुदवा ददन्नः ।
भग प्रणो जनय गोभिरश्वैर्भग प्रनृभिर्नृवन्तः स्याम ॥
ऋ० ७।४१।३॥

(भग) हे भजनीय (प्रणेतः) उत्तम मार्गदर्शक, उत्तमगतिदाता !

(भग) हे सकलैश्वर्य्य संपन्न (सत्यराधाः) सत्य धन वाले ! (भग) सब ऐश्वर्य के दाता प्रभो ! (इमाम् धियम्) [तू] इस बुद्धि को (ददत्) देता हुआ (नः) हमारी (उत्+अव) उत्तमता से रक्षा कर। (भग) हे भगवान् ! नः हमको (गोभिः) गौओं के साथ, पृथिवी आदि के साथ (अश्वैः) घोड़ों के साथ, विद्युत् से युक्त (प्र+जनय) उत्तम जन्म दीजिये। (भग) हे पूजनीय परमेश्वर ! (नृभिः) श्रेष्ठ नेता मनुष्यों के कारण (नृवन्तः) उत्तम नरों वाले (प्र+स्याम)) हम श्रेष्ठ हों।

उतेदानीं भगवन्तः स्यामोत प्रपित्व उत मध्ये अह्नाम् ।
उतोदिता मघवन्त्सूर्य्यस्य वयं देवानां सुमतौ स्याम ॥

ऋ० ७।४१।४॥

(मघवन्) हे पूजित धन देने वाले परमेश्वर ! (उत इदानीम्) और इसी समय, अब (उत अह्नाम्) और दिनों के (मध्ये) मध्य में (भगवन्तः स्याम) [हम] भग वाले ऐश्वर्य वाले होवें। (उत सूर्यस्य) और सूर्य्य के (उदिता) उदय काल में (वयम्) हम (देवानाम्) निष्काम विद्वानों की (सुमतौ स्याम) सुमति में होवें।

भग एव भगवाँ अस्तु देवास्तेन वयं भगवन्तः स्याम ।
तं त्वा भग सर्व इज्जोहवीति स नो भग पुरएता भवेह ॥

ऋ० ७।४१।५।

(भगवान्) परमेश्वर (भगः) भजनीय, पूजनीय (एव अस्तु) ही होवें (तेन) उससे युक्त हुए (वयम् देवाः) हम ज्ञानी, धार्मिक (भगवन्तः स्याम) ऐश्वर्य्य वाले होवें (भग) हे भजनीय परमेश्वर ! (तम् त्वा) उस तुझको (सर्वः इत्) सब [संसार] ही (जोहवीति) स्तुति करता है, पुकारता है। (भग) भजनीय पदार्थों के दाता ! (सः) ऐसा तू (इह नः) इस संसार हमारा (पुरः+एता भव) अग्रगामी नेता आदर्श हो।

इन मन्त्रों में प्रात:काल=ब्राह्ममुहूर्त्त में जागकर धर्म और अर्थ के चिन्तन तथा भगवान् के ध्यान का विधान है। सबसे पहले मनुष्यों को परमात्मा की, नानारूपों में अनेक कार्यों के सम्पादन करने वाली अनन्त शक्तियों का मनन करना चाहिए, उससे मनुष्य को दृढ़ निश्चय होगा कि हमारा जीवन प्रभु की कृपा पर आश्रित है। इस चिन्तन से उसे भान होगा, कि धन ऐश्वर्य्य निन्दनीय वस्तु नहीं है, प्रकृति के इस पुत्र को राजा लोग भी भोग्य मानते और साथ ही उसे बोध होगा, कि परमेश्वर ही वास्तव में धन का स्वामी है, अत: धन-प्राप्ति के लिए उसी की ओर झुकना चाहिए। उसको अपनानें से सब धन अपने-आप हमारे हो जाएँगे। भगवान् ने मनुष्य को सर्वार्थसाधिका बुद्धि दी है। यदि उस बुद्धि से काम लिया जाए, तो धन-धान्य की कोई न्यूनता नहीं रह सकती। प्रात: सायं-मध्याह्न, और सबसे बढ़कर अपनी उन्नति की दशा में प्रभु को—सकल सुख-दाता प्रभु को नहीं भूलना चाहिए। सारा संसार उसे पुकारता है। हम भी उसे पुकारें, उसे ही अपना आदर्श बनाएँ, तब हम भी भगवान्=ऐश्वर्यवान् बन जाएँगे।

विनय

हे ज्ञान-ध्यान-विद्या-निधान ! अपार ऐश्वर्य के आधार ! दारिद्रय दुर्गुण-नाशक प्रभो ! विभो ! तू हमारे खोटे कर्म्मों के कारण यदि हमें रुलाता है, तो तू हमें शान्ति और सान्त्वना भी देता है। पर-मात्मन् ! धन की तलाश और आश में हम तेरे द्वार पर आए हैं, कृपा करके सब धनों—ज्ञानधन, धर्म्मधन, आचारधन, उपकारधन आदि—की साधिका सर्वोत्तम बुद्धि का दान हमें दीजिये। परमेश्वर ! आपकी कृपा से जीवननिर्वाह-सामग्री तो हमें मिलेगी, इसमें तो सन्देह ही नहीं। आपकी हम पर ऐसी कृपा हो कि हम उत्तम श्रेष्ठ धार्मिक जगन्नायक महात्मा की सत्संगति से उत्तम जनधन-सम्पन्न

हों। प्रभो ! चाहे अब की सामान्य अवस्था हो, और चाहे उत्कर्ष-प्राप्ति की दशा हो। प्रातःकाल की प्रभात वेला हो, अथवा मध्याह्न= दोपहर का प्रचण्ड काल हो, वा सूर्य का अस्तकाल हो, हम पर तेरे प्यारों की सदा कृपा बनी रहे। प्रभो ! तुझे छोड़ और किसी को हम अपना भगवान् पूज्य आराध्य न मानें, समस्त संसार आपकी आराधना करता है। प्रभो ! हम तुझे अपना आदर्श Ideal बनाते हैं। ऐश्वर्यवान् होकर हम भी तेरे समान अपना ऐश्वर्य्य लोकहित में लगा दें।

भोजन-समय की प्रार्थना

अन्नपतेऽन्नस्य नो धेह्यनमीवस्य शुष्मिणः ।
प्र प्र दातारं तारिष ऊर्जं नो धेहि द्विपदे चतुष्पदे ॥

य० ११। ८३॥

(हे अन्नपते) हे अन्न के स्वामिन् परमात्मन् ! (नः=अनमीवस्य) हमें रोगरहित, रोगनाशक (शुष्मिणः) बलप्रदाता (अन्नस्य) अन्न का (धेहि) दान दे। [हे प्रभो !] (दातारम्) दाता को (प्र+प्र+तारिषः) बहुत-बहुत बढ़ाइए। (नः=द्विपदे) हमारे मनुष्यों, भृत्यादिकों के लिए (चतुष्पदे) तथा चौपाये के लिए (ऊर्जं) बल बलकारक अन्न (धेहि) दे।

विनय

प्रभो ! अन्नपते ! जगत् के सारे पदार्थों का तू ही स्वामी है । तेरी कृपा से सबको भोग सामाग्री मिलती है । प्रभो ! ऐसी कृपा कीजिये, कि हमारा खाया-पिया हमारे बल और स्वास्थ्य का बढ़ाने वाला हो। प्रभो ! संसार में अन्नदान करनें वालों की सदा बढ़ती हो, उन्हें किसी प्रकार की क्षति न हो। प्राणिमात्र को बलकारक जीवनाधायक अन्न, बल सदा मिलता रहे।

स्नान-समय के मन्त्र

आपो हि ष्ठा मयोभुवस्ता न ऊर्जे दधातन।
महे रणाय चक्षसे ॥ ऋ० १०।९।१॥

(हि) सचमुच (आपः) जल (मयोभुवः) सुखदायी (ष्ठा=स्थ) होते हैं (ताः नः) वे [जल] हमें (ऊर्जे) बल के लिए (महे) महत्व के लिए (रणाय) बोलने के लिए (चक्षसे) [तथा] देखने के लिए (दधातन) धारण करे।

यो वः शिवतमो रसस्तस्य भाजयतेह नः।
उशतीरिव मातरः ॥ ऋ० १०।९।२॥

(वः) तुम्हारा उनका (यः) जो (शिवतमः) अत्यंत कल्याणकारी (रसः) रस [है] (उशतीः) सन्तान को चाहने वाली (मातरः इव) माताओं की भाँति (नः इह) हमें इस समय (तस्य) उसका (भाजयत) भागी कीजिये।

तस्मा अरं गमाम वो यस्य क्षयाय जिन्वथ।
आपो जनयथा च नः ॥ ऋ० १०।९।३॥

(वः) तुम्हारे (तस्मै) उस को (अरम्+गमाम) भली प्रकार हम प्राप्त हों, (यस्य) जिसके (क्षयाय) वास के लिए, वृद्धि के लिए (जिन्वथ) तुम प्रसन्न होते हो (आपः) जल [हमारे लिए] (चनः जनयथ) अन्न पैदा करें।

शन्नो देवीरभिष्टय आपो भवन्तु पीतये।
शंयोरभिस्रवन्तु नः ॥ ऋ० १०।९।४॥

(देवीः) दिव्यगुण वाले (आपः) जल (नः+अभीष्टये) हमारे अभीष्ट (पीतये) पीने के लिए (शम्+भवन्तु) सुखदायी हों (नः) हम पर (शंयोः) शान्ति और दुःखाभाव की (अभि+स्रवन्तु) चारों ओर से वृष्टि करें।

ईशाना वार्य्यणां क्षयन्तीश्चर्षणीनाम् ।
अपो याचामि भेषजम् ॥ ऋ० १०।९।५ ॥

(वार्य्याणाम्) श्रेष्ठ पदार्थों में से (ईशाना:) श्रेष्ठ, (चर्षणी-नाम्) मनुष्यों के (क्षयन्ती:) बसाने वाले (अप:+भेषजम्) जलों से औषध (याचामि) चाहता हूँ।

अप्सु मे सोमो अब्रवीदन्तर्विश्वानि भेषजा ।
अग्निं च विश्वशंभुवम् ॥ ऋ० १०।९।६॥

(सोम:) सोम ने, शान्तिदायक प्रभु ने (मे) मुझे (अप्सु+अन्त:) जलों के भीतर (विश्वानि+भेषजा) सब दवाइयों (च) और (विश्वशंभुवम्) संसार के कल्याणसाधक (अग्निम्) अग्नि को (अब्रवीत्) बताया है।

आप: पृणीत भेषजं वरूथं तन्वे मम ।
ज्योक् च सूर्य्यं दृशे ॥ ऋ० १०।९।७॥

(आप:+मम) जल मेरे (तन्वे) शरीर के लिए (च+ज्योक्) और चिरकाल तक (सूर्य्यम्) सूर्य्य को (दृशे) देखने के लिए (वरूथम् +भेषजम्) श्रेष्ठ दवाई (पृणीत) प्रभु-कृपा से दें।

इदमाप: प्रवहत यत्किंच दुरितं मयि ।
यद्वाहमभि दुद्रोह यद् वा शेप उतानृतम् ॥
ऋ० १०।९।८॥

(मयि) मुझमें (यत्+किंच) जो कुछ (दुरितम्) दोष [है] (इदम्+आप:) इसको जल (प्रवहत) उत्तमता से बहा ले जाएँ (यद्वा+यत्) अथवा जो (अभिदुद्रोह) मैंने द्रोह=सृष्टि-नियम का उल्लंघन किया। (उत+वा) और अथवा (यत्+अनृतम्) जो झूठ (शेपे) गाली दी, गिला किया।

आपो अद्यान्वचारिषं रसेन समगस्महि ।
पयस्वानग्न आ गहि तं मा संसृज वर्चसा ॥
ऋ० १०।९।९॥

(आपः) हे जलो! जलवत् शान्ति देने वाले प्रभो! (अद्य) आज, इस जन्म में (अनु+अचारिषम्) मैंने अनुकूल आचरण किया है। (रसेन) [अतः] रस से (सम्+अगस्महि) हम भली प्रकार संगत होते हैं। (अग्ने) हे अग्ने (पयस्वान्) जलयुक्त, रसयुक्त [होकर] (आ+गहि) सब ओर से प्राप्त हो (तम्+मा) [और] उस मुझको (वर्चसा) तेज से, वर्च से (सं+सृज) भली प्रकार संयुक्त कर।

स्नान करते समय भगवान् की कृपाओं का स्मरण अवश्य करना चाहिए। भगवान् की कैसी अद्भुत शक्ति है, जल के द्वारा कितना अद्भुत आश्चर्य्यकारी कार्य्य भगवान् करते हैं। प्राणियों की प्यास जल से बुझती हैं। शरीर का मल जल से धुलता है। और युक्ति से जल का सेवन किया जाए, तो कोई रोग आए ही नहीं। और यदि दुर्भाग्य से किसी नियमविरुद्ध आचरण के कारण कोई रोग आ भी जाए, तो जल में सब औषध हैं। औषधों की बात क्या कहें, संसार की अनेककार्य्यसाधक, सुखदायक बिजली भी जल में निहित है। सोचो, जिस भगवान् ने जीवों के कल्याण के लिए जल ऐसा शीतल, शान्तिदायक पदार्थ रचा, उसका कैसे स्मरण न किया जाए! जरा गम्भीरता से विचारें, तो ज्ञात होगा जड़ जल का सामर्थ्य ही क्या है? यह तो सब उस सोम=शान्ति-जल बनाने वाले, सबके मंगलकारी, सर्वहितकारी परमोपकारी प्रभु की कृपा है कि जल से हमारा देहमल धुल जाता है। इस दृष्टान्त से जलके जल, अत्यन्त अमल, सबके बल, भगवान् को यदि हम आत्मा में डालें, तो हमारे सब प्रकार के मल धुल जाएँ। यह इन मन्त्रों का परम तात्पर्य है। स्नान करते समय इन मन्त्रों का पाठ करना चाहिए।

विनय

परमात्मन्! कल्मषापहारिन् दिव्यात्मन्! कालुष्यनिवारक

अधमोद्धारक परमोपकारक सर्वसुखकारक शुद्धात्मन्। प्रभो ! मैं तेरे पास आना चाहता हूँ। कैसे आऊँ ? तुझे कैसे पाऊँ ? मैंने तेरे बनाए शीतल जल से मल-मल कर देह का मल दूर किया है। देह तो विमल हो गया किन्तु शान्ति न मिली। मन का मैल न गया। सबको ठण्डक देने वाले ! भय-ताप मिटाने वाले ! सब सन्ताप मिटाने वाले ! सबको उजला करने वाले पितः ! मेरा भी मैल हटा। मेरा भी अन्तःकरण शुद्ध कर। प्रभो ! शारीरिक नियमों के तोड़ने के साथ मैं अनेक बार वाणी का भी दुरुपयोग कर बैठता हूँ। जिस वाणी से तेरा गुणगण गान करना था, जिस वाणी से अज्ञानियों को ज्ञान का मार्ग बताना था, प्रभो ! मैं उससे झूठ बोलता हूँ, उससे दूसरों के दिलों को दुखाने वाले कठोर वचन बोलता हूँ, उससे जनवाद, उन्मत्त प्रलाप और बकवाद करता हूँ। आपके मन्दिर-मन में तो मैंने कुसंस्कारों का कीचड़ डालकर उसे बहुत ही गंदा कर दिया है। अब मुझे डर लगता है। कैसे उनकी शुद्धि करूँ ? तू स्वयं शुद्ध है और दूसरों का शोधक है, शुद्ध करने वाला है। मैं तेरी शरण में आया हूँ। अनन्यशरण हुआ तुझसे ही अपनी अशुद्धि की चिकित्सा कराना चाहता हूँ। पतितपावन ! पवित्र कर, पवित्र कर।

रात्रि के सोने के समय के मन्त्र

यज्जाग्रतो दूरमुदैति दैवं तदु सुप्तस्य तथैवैति ।
दूरङ्गमं ज्योतिषां ज्योतिरेकं तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ॥

य० ३४ । १ ॥

(यत्) जो (दैवम्) दिव्य गुणों वाला [मन] (जाग्रतः) जागते हुए [मनुष्य] का (दूरम्) दूर (उत्+आ+एति) चला जाता है, (सुप्तस्य) सोए हुए [मनुष्य] का (उ+तथा) भी वैसे (एव+एति) ही जाता है (तत्) वह (दूरङ्गमम्) दूर-दूर तक जाने वाला

(ज्योतिषां) [इन्द्रियरूप] ज्योतियों में से (एकम्+ज्योतिः) प्रधान ज्योति (मे+मनः) मेरा मन (शिवसंकल्पम्) भले विचारों वाला (अस्तु) होवे।

येन कर्म्माण्यपसो मनीषिणो यज्ञे कृण्वन्ति विदथेषु धीराः।
यदपूर्वं यक्षमन्तः प्रजानां तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु॥
य० ३४।२॥

(येन) जिस [मन] के द्वारा (अपसः) कर्म्मशील सत्कर्म्म-परायण (मनीषिणः) बुद्धिसंपन्न, ज्ञान के धनी (धीराः) ध्यानधारी महात्मा (यज्ञे) परोपकारमय, विद्वत्सत्कार आदि यज्ञ में (विदथेषु) [तथा] ज्ञानयज्ञों में (कर्म्माणि) कर्म्मों को (कृण्वन्ति) करते हैं, (यत्) [और] जो (प्रजानाम्) प्रजाओं के (अन्तः) बीच में (अपूर्वम्) अपूर्व, विलक्षण, अद्भुत (यक्षम्) संगतिकारी, संकल्प-विकल्पकारी पुजारी [है] (तत्+मे+मनः) वह मेरा मन (शिव-संकल्पम्) भले संकल्पों वाला, शुभ भावनाओं वाला अस्तु होवे।

यत्प्रज्ञानमुत चेतो धृतिश्च यज्ज्योतिरन्तरमृतं प्रजासु।
यस्मान्न ऋते किंचन कर्म्म क्रियते तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु॥
य० ३४।३॥

(यत्) जो [मन] (प्रज्ञानम्) ज्ञान का उत्तम साधन (उत) और (चेतः) समझाने-बुझाने की शक्ति वाला, अथवा चित्तस्वरूप (च+धृतिः) और धैर्यवाला अथवा अहंकारस्वरूप [है] (यत्) [और] जो (प्रजासु+अन्तः) प्रजाओं के बीच में (अमृतम्) अमृत, विनाशरहित, जीवनदायी (ज्योतिः) ज्योति, प्रकाश है (यस्मात्) [और] जिसके (ऋते) बिना (किं+चन+कर्म) कोई कर्म, (न+क्रियते) नहीं किया जाता है, (तत्+मे) वह मेरा (मनः) मन, मनन-साधन (शिवसंकल्पम्) भले संकल्पों वाला, (शिव) परमात्म-सम्बन्धी (संकल्पों) भावों वाला (अस्तु) होवे।

येनेदं भूतं भुवनं भविष्यत्परिगृहीतममृतेन सर्वम् ।
येन यज्ञस्तायते सप्तहोता तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ।।
य० ३४ । ४ ।।

(येन) जिस (अमृतेन) अविनाशी [मन] ने (भूतम्) भूत=बीता हुआ (भुवनम्) वर्त्तमान (भविष्यत्) [और] (भविष्यत्) आगे आने वाला (इदम्+सर्वम्) यह सब (परिगृहीतम्) पकड़ रखा है (येन) जिसके द्वारा (सप्तहोता) सात होताओं वाला (यज्ञः+तायते) यज्ञ फैलाया जाता है (तत् मे+मनः) मेरा वह मन (शिवसंकल्पम्) भले संकल्पों वाला (अस्तु) होवे ।

यस्मिन्नृचः साम यजूंषि यस्मिन् प्रतिष्ठिता रथनाभाविवाराः ।
यस्मिंश्चित्तं सर्वमोतं प्रजानां तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ।।
य० ३४ । ५ ।।

(यस्मिन्) जिस [मन] में (ऋचः) ऋचाएँ, छन्दोबद्ध वेदमन्त्र (साम) [और] साम=गीतियुक्त वेदमन्त्र (यस्मिन्) [और] जिस [मन] में (यजूंषि यजु) गद्य वेदमन्त्र (प्रतिष्ठिता) [ऐसे] प्रतिष्ठित हैं, स्थित हैं (इव) जैसे (रथनाभौ) रथ की नाभि में (अराः) अरे । (यस्मिन्) [और] जिसमें (प्रजानाम्) प्रजाओं की (सर्वम् चित्तम्) सारी विचारशक्ति (ओतम्) ओतप्रोत है (तत् मे मनः) वह मेरा मन (शिवसंकल्पम्) भले संकल्पों वाला (अस्तु) होवे ।

सुषारथिरश्वानिव यन्मनुष्यान्नेनीयतेऽभीशुभिर्वाजिन इव ।
हृत्प्रतिष्ठं यदजिरं जविष्ठं तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ।।
य० ३४ । ६ ।।

(इव) जैसे (सुषारथिः) (सु+सारथिः) उत्तम सारथि (अभीशुभिः) लगामों के द्वारा (वाजिनः) वेगवान् (अश्वान्) घोड़ों को (इव) मानो (नेनीयते) शीघ्र ले जाता है, चलाता है (यत्) [उसी प्रकार] जो [मनुष्यों को बार-बार ले जाता है] (यत्) [और] जो

[मन] (हृत्प्रतिष्ठम्) हृदय में स्थित (अजिरम्) उथल-पुथल करने वाला (जविष्ठम्) [और] सबसे वेगवान् [है] (तत् मे मनः) वह मेरा मन (शिवसंकल्पम्) भले संकल्पों=सामर्थ्यों वाला (अस्तु) होवे।

विनय

हे दिव्य गुण-कर्म्म-स्वभाव वाले अन्तरात्मन् परमात्मन्! हे महतो महीयन् भगवन्! प्रभो! मुझे अपनी शक्ति, असमर्थता पग-पग पर भासित हो रही है। प्रभो! मन को आपने मेरा सेवक बनाकर दिया, किन्तु यह तो मुझसे विमुख हो गया है, अथवा मैंने अज्ञान और प्रमाद के कारण इसे कुपथमार्ग कर दिया है। भगवन्! सोने की दशा में क्या कहूँ, यह तो जागते में भी अनेक बार, जाने, कहाँ चला जाता है। मेरे भगवान् दयानिधान! आपने इसे मेरी इन्द्रियों का अधिष्ठाता बनाकर मुझे दिया किन्तु यह तो मेरे वश में नहीं रहा। जागते में अंडबंड विचारों में लीन हो जाता है, फिर स्वप्न में भी वैसे दृश्य दिखाता है। दातः! यह तेरा दान है, अतः तू ही सुधार। तू ही इसे भलाई में लगा। प्रभो! तेरे भक्त इसके द्वारा विचित्र कर्म्म करते हैं, लोकहित साधते हैं, उनका तो यह यक्ष=पुजारी बन जाता है, और मेरा यक्ष=राक्षस=पूजा-अरि। कैसे इसे तेरे पथ पर चलाऊँ। मेरा यह अन्तःकरण, मेरा यह ज्ञान-साधन, मेरी चिन्तना का कारण, मेरी सत्ता का धारण, यह मन सुमार्गस्थ हो, तो सब सुकर्म्मों का सुसाधक बन जाता है। निस्सन्देह इसके सहयोग के बिना कोई भी इन्द्रिय अपना कार्य्य नहीं कर सकती। स्वामिन्! कृपा कर। यह मेरा मन शुभ ज्ञान, शुभ-चिन्तन और शुभ ध्यान से सम्पन्न हो।

दयालो! तेरा कितना धन्यवाद करूँ! तूने मुझे अद्भुत शक्ति-शाली साधन दिया है। मेरी क्रिया—अतीत क्रिया—का संग्रह रखता

है। उसके आधार से मेरे वर्त्तमान का विधान हो रहा है। वर्त्तमान के अनुसार भविष्यत् का निर्माण हो रहा है। यह जीवन-यज्ञ का नायक है। रक्षक! कहीं यह मेरे यज्ञ को=अध्वर को दूषित न कर दे, कहीं मेरे बिगड़े अतीत के कारण मेरा वर्त्तमान और भविष्य भी काला न हो जाए। अतः प्रभो! तुझसे विनीत प्रार्थना है कि इसे अपनी ओर खींच। सचमुच, भगवन्! यह बड़ा पण्डित है। चारों वेदों को यह धारण कर लेता है, किन्तु साक्षर ही प्रायः राक्षस होते हैं। मेरा यह मन साक्षर ही रहे, राक्षस न बने। यह तेरी कृपा के बिना सम्भव नहीं, अतः तुझसे ही प्रार्थना है। मेरे इन्द्रिय-घोड़े विषयघास की ओर दौड़ पड़ते हैं, मेरे रथ के गढ़े में गिरने का त्रास मुझे सताने लगता है। और यह मन सारथि मतवाला हो जाता है। सर्वनाश, तब, सामने दीखता है। प्रभो! तेरी कृपा से अत्यन्त वेगवान् और उपद्रवी मन शान्त और सुशील बन जाए। यह उत्तम कोचवान की भाँति हमें लक्ष्य पर ले चले। इन्द्रियों को विदकने न दे। तेरी कृपा से यह मेरा मन मेरा होकर तेरा हो जाए, और तेरा होकर मेरा मार्गदर्शक बन जाए।

अभय

इदमुच्छ्रेयोऽवसानमागां शिवे मे द्यावापृथिवी अभूताम्।
असपत्नाः प्रदिशो मे भवन्तु न वै त्वा द्विष्मो अभयं नो अस्तु॥
अ० १९।१४।१॥

(इदम् श्रेयः) इस कल्याणमय (अवसानम्) अवसान, समाप्ति को (उत+आ+अगाम्) मैंने उत्तमता से प्राप्त किया है (द्यावापृथिवी) द्यौ और पृथिवी (मे शिवे) मेरे लिए सुखदायी (अभूताम्) रहें (प्रदिशः) प्रदिशाएँ (मे असपत्नाः) मेरी अविरोधी (भवन्तु) होवें (त्वा न+वै) तुझसे नहीं (द्विष्मः) हम वैर करते। (नः अभयम्) हमें अभय, निर्भयता (अस्तु) होवे।

जिस मनुष्य का व्यवहार मधुर होता है, उसका परिणाम=अवसान सुखमय होता है। सारी त्रिलोकी उसके लिए सुख का सामान जुटा देती है। कहीं भी उसका कोई विरोधी न होता। जो मनुष्य किसी से द्वेष नहीं करता, उसे किसी से भय भी नहीं होता। अर्थात् निर्भयता के लिए आवश्यक है कि पहले द्वेष का नाश किया जाए।

यत इन्द्र भयामहे ततो नो अभयं कृधि।
मघवञ्छग्धि तव तन्न ऊतिभिर्वि द्विषो वि मृधो जहि॥

ऋ० ८।६१।१३॥

(इन्द्र) हे सर्वद्रष्टा परमेश्वर! (यतः) जिस-जिससे (भयामहे) हम डरते हैं (ततः नः) उस-उससे हमारा (अभयम् अभय) निर्भयता (कृधि) कर। (मघवन्) सकलैश्वर्य्य सम्पन्न प्रभो! (तत्) उसको (शग्धि) तू कर सकता है। (तव) अपनी (ऊतिभिः) रक्षाओं के द्वारा (नः) हमारे (द्विषः) शत्रुओं को, द्वेषभावों को (वि) [जहि] विनाश कर। (मृधः) संग्रामों को, प्रजामारकों को (विजहि) विनाश कर।

मनुष्य के लिये भय के स्थान अनेक हैं, बहुधा उनका उसको ज्ञान भी नहीं होता। अतः मनुष्य को सर्वज्ञान भगवान् की शरण में जाना चाहिए, अपना आपा भगवान् के अर्पण करके उसी से अभय की प्रार्थना करनी चाहिए। भगवान् सर्वसमर्थ हैं, वही हमें निर्भय कर सकते हैं। भय का कारण संग्राम होते हैं, संग्रामों का कारण मनुष्यों का, राष्ट्रों का पारस्परिक द्वेष होता है, अतः भगवान् से द्वेषमूलक कलहों के नाश की प्रार्थना करनी चाहिए।

इन्द्रः सुत्रामा स्ववाँ अवोभिः सुमृळीको भवतु विश्ववेदाः।
बाधतां द्वेषो अभयं कृणोतु सुवीर्य्यस्य पतयः स्याम॥

ऋ० ६।४७।१२॥

(सुत्रामा) उत्तम त्राता=सुरक्षक (स्ववान्) सामर्थ्यसम्पन्न (विश्ववेदाः) सर्वज्ञ, सर्वधन सम्पन्न (इन्द्रः) इन्द्र=ऐश्वर्य्यसम्पन्न प्रभु (अवोभिः) रक्षाओं के द्वारा (सुमृलीकः) उत्तम सुखदाता (भवतु) होवे (द्वेषः) शत्रुओं को, द्वेषों को (बाधताम्) रोके (अभयम्) अभय, निर्भयता (कृणोतु) करे। [जिससे हम] (सुवीर्य्यस्य) उत्तम शक्ति के (पतयः) पति, पालक स्वामी (स्याम) होवें।

भगवान् ही सर्वश्रेष्ठ रक्षक है। उसकी प्रीतिप्राप्ति का प्रयत्न करना चाहिए। तब वह हमें निर्भय कर देगा। निर्भयता के कारण हम में भी उत्तम सामर्थ्य आ जायेगा।

यतो यतः समीहसे ततो नो अभयं कुरु ।
शन्नः कुरु प्रजाभ्योऽभयं नः पशुभ्यः ॥

य० ३६। २२॥

(यतः+यतः) जहाँ-जहाँ (सम्+ईहसे) तू चेष्टा करता है, (ततः) वहाँ-वहाँ से (नः) हमारे लिए (अभयम् कुरु) अभय कर। (नः) हमारी (प्रजाभ्यः) प्रजाओं के लिए (शम्) कल्याण [कर]। (नः) हमारे (पशुभ्यः) पशुओं के लिए (अभयम्=अभय) निर्भयता [कर]।

समस्त संसार में भगवान् की चेष्टा विराजमान है। कोई स्थान ऐसा नहीं, जहाँ भगवान् की क्रियाशक्ति कार्य्य न कर रही हो ; अतः भक्त कहता है। प्रभो ! मेरी सर्वत्र रक्षा कर। मुझे कहीं भी भय न हो। सर्वरक्षक भगवान् सर्वत्र विद्यमान है। अतः भक्त सर्वत्र अभय रहता है। अपनी सन्तान एवं अपने सभी उपयोगी सामान के लिए भक्त भगवान् से कल्याण और अभय का दान माँगता है।

सख्ये त इन्द्र वाजिनो मा भेम शवसस्पते ।
त्वामभि प्रणोनुमो जेतारमपराजितम् ॥

ऋ० १। ११। १॥

(शवसः—पते—इन्द्र) हे बल के स्वामिन् ईश्वर! (वाजिनः) [हम] बलवान् (ते सख्ये) तेरे सख्य में, मित्रता में [रहते हुए] (मा भेम) मत डरें। (त्वाम्) तुझ (अपराजितम्) पराजित न होने वाले (जेतारम्) जीतने वाले को (अभि—प्र—नोनुमः) सब ओर से बार-बार प्रणाम करते हैं।

भगवान् सर्वशक्तिमान् है, उनकी मित्रता में रहने से मनुष्य को कहीं से भी कोई भय नहीं हो सकता। अतः निर्भयता चाहने वालों को उसका सख्य प्राप्त करने का यत्न करना चाहिए। संसार का कोई भीं पदार्थ ऐसा नहीं, जो भगवान् से उत्कृष्ट हो, श्रेष्ठ हो। भगवान् ही सबसे श्रेष्ठ और उत्कृष्ट हैं। अतः उस सर्वश्रेष्ठ, सर्वोत्कृष्ट भगवान् को बार-बार प्रणाम करना चाहिए।

अभयं द्यावापृथिवी इहास्तु नोऽभयं सोमः सविता नः कृणोतु।
अभयं नोऽस्तूर्वन्तरिक्षं सप्तऋषिणां च हविषाऽभयं नो अस्तु॥

अ० ६। ४०। १॥

(इह) यहाँ, इस जीवन में (द्यावापृथिवी) द्यौ और पृथिवी से (नः) हमें (अभयम्—अस्तु) अभय होवे। (सोमः सविता) सोम=चन्द्र [और] सूर्य्य (नः अभयम् कृणोतु) हमारे लिए अभय करे। (उरु—अन्तरिक्षम्) विशाल अन्तरिक्ष (नः अभयम्) हमारे लिए अभय [करे]। (च) और (सप्त ऋषिणाम्) सात ऋषियों=इन्द्रियों के (हविषा=हविः) भोग, विषय से (नः अभयम् अस्तु) हमारे लिए अभय हो।

पृथिवी, अन्तरिक्ष, द्यौ, सूर्य्य, चन्द्र, सप्तर्षि एवं इन्द्रियों से मनुष्य को किसी प्रकार का भय नहीं होना चाहिए। यह मनुष्य के अपने आचार-व्यवहार पर निर्भर है।

ऋषि शब्द का अर्थ इन्द्रिय भी होता है। जैसे यजुर्वेद में कहा है 'सप्त ऋषयः प्रतिहिताः शरीरे' शरीर में सात ऋषि रखे हैं।

स्पष्ट है कि यहाँ ऋषि का अर्थ इन्द्रिय है।

अभयं नः करत्यन्तरिक्षमभयं द्यावापृथिवी उभे इमे ।
अभयं पश्चादभयं पुरस्तादुत्तरादधरादभयं नो अस्तु ॥
अ० १९ । १५ । ५ ॥

(अन्तरिक्षम् नः) अन्तरिक्ष हमारे लिए (अभयम् करति) अभय करे। (इमे उभे) ये दोनों (द्यावापृथिवी अभयम्) द्यौ और पृथिवी अभय [करें]। (नः पश्चात् अभयम्) हमारे लिए पीछे से, अभय, (पुरस्तात् अभयम्) सामने से अभय, (उत्तरात् अधरात्) उत्कृष्ट से, ऊपर से और अपकृष्ट से, नीचे से (अभयम् अस्तु) अभय होवे।

त्रिलोकी में कहीं से भी किसी प्रकार का भय न हो।

अभयं मित्रादभयममित्रादभयं ज्ञातादभयं पुरो यः ।
अभयं नक्तमभयं दिवा नः सर्वा आशा मम मित्रं भवन्तु ॥
अ० १९ । १५ । ६ ॥

(मित्रात् अभयम्) मित्र से अभय, (अमित्रात् अभयम्) शत्रु से से अभय, (ज्ञातात् अभयम्) ज्ञात पदार्थ से अभय, (यः पुरः) [और] जो सामने [है] (अभयम्) [उससे] अभय, (नः) हमारे लिए (नक्तम् अभयम्) रात्रि में निर्भयता, (दिवा अभयम्) दिन में निर्भयता, (सर्वाः आशाः) सब दिशाएँ (मम मित्रम् भवन्तु) मेरे मित्र, स्नेही होवें।

मित्र, अमित्र, ज्ञात, अज्ञात, दिन-रात सबसे अभय रहने की कामना है, अर्थात् किसी समय किसी भी पदार्थ से डर न हो।

यहाँ एक बात ध्यान देने योग्य है। मित्र से भी अभय रहने की कामना की गई है। और 'मित्रादभयम्' 'अमित्रादभयम्' से पहले रखा गया है। इसका विशेष प्रयोजन है। मित्र हमारा रहस्य जानता है, किसी कारण विकार होने पर जितनी हानि उससे पहुँच सकती है, उतनी शत्रु से नहीं, अतः मित्र से अभयता-सम्पादन का विशेष

यत्न करना चाहिए। निर्भय से सभी स्नेह करते हैं। दिशाओं का अर्थ दिशाओं में रहने वाले।

यथा द्यौश्च पृथिवी च न बिभीतो न रिष्यतः ।
एषा मे प्राण मा बिभेः ॥ २।१५।१ ॥

(यथा द्यौः च) जिस प्रकार द्यौ और (पृथिवी च) पृथिवी और =अन्तरिक्ष (न बिभीतः) नहीं डरते, (न रिष्यतः) [अतएव] नहीं हिंसित होते, (एवा मे प्राण) इसी प्रकार [हे] मेरे प्राण! (मा बिभेः) मत डर।

यथाहश्च रात्री च न बिभीतो न रिष्यतः ।
एवा मे प्राण मा बिभेः ॥ अ० २।१५।२॥

(यथा अहः च) जैसे दिन और (रात्री च) रातें और प्रभात और सायं (न बिभीतः) नहीं डरते (न रिष्यतः) [अतएव] नहीं हिंसित होते, (एवा मे प्राण) इसी प्रकार [हे] मेरे प्राण! (मा (बिभेः) मत तू डर।

यथा सूर्य्यश्च चन्द्रश्च न बिभीतो न रिष्यतः ।
एवा मे प्राण मा बिभेः ॥ अ० २।१५।३॥

(यथा सूर्य्यः च) जैसे सूर्य्य और (चन्द्रः च) चन्द्र और=नक्षत्र तारादि (न बिभीतः) नहीं डरते हैं (न रिष्यतः) [अतएव] नहीं हिंसित होते हैं, (एवा मे प्राण) इसी प्रकार [हे] मेरे प्राण! (मा बिभेः) मत तू डर।

यथा ब्रह्म च क्षत्रं च न बिभीतो न रिष्यतः ।
एवा मे प्राण मा बिभेः ॥ अ० २।१५।४॥

(यथा) जैसे (ब्रह्म च) ब्रह्म=ज्ञान, आत्मिक शक्ति और (क्षत्रम् च) क्षत्र=शूरता, शारीरिक शक्ति और=मानसिक शक्ति (न बिभीतः) नहीं डरते हैं (न रिष्यतः) [अतएव] नहीं हिंसित होते हैं, (एवा मे प्राण) इसी प्रकार [हे] मेरे प्राण! (मा बिभेः) मत तू डर।

यथा सत्यं चानृतं च न बिभीतो न रिष्यतः ।
एवा मे प्राण मा बिभेः ।। अ० २ । १५ । ५ ।।

(यथा सत्यम्) जिस प्रकार सत्य, देव (च अनृतम् च) और अनृत अन्य शक्तियाँ भी (न बिभीतः) नहीं डरते (न रिष्यतः) [अतएव] नहीं हिंसित होते, (एवा मे प्राण) ऐसे ही [हे] मेरे प्राण ! (मा बिभेः) मत तू डर ।

यथा भूतं च भव्यं च न बिभीतो न रिष्यतः ।
एवा मे प्राण मा बिभेः ।। अ० २ । १५ । ६ ।।

(यथा भूतम् च) जिस प्रकार भूत—अतीत और (भव्यम् च) भविष्यत् और [वर्त्तमान] (न बिभीतः) नहीं डरते (न रिष्यतः) [अतएव] नहीं हिंसित होते, (एवा मे प्राण) इसी प्रकार [हे] मेरे प्राण ! (मा बिभेः) मत तू डर ।

द्यौ, पृथिवी, सूर्य्य चन्द्र, दिन-रात आदि प्राकृत पदार्थों में शक्ति का कारण निर्भयता है । अर्थात् ये सारे पदार्थ नियमपूर्वक अपने कर्त्तव्य-पथ पर चल रहे हैं, अतः इन्हें किसी से भय नहीं होता, और अतएव इनकी कोई हानि भी नहीं होती । इसी भाँति जो परमात्मा की आज्ञा का पालन करता है, नियमों का उल्लंघन नहीं करता, उसे कहीं से भय नहीं होता ।

मनुष्य को इन मन्त्रों द्वारा एक अति गम्भीर तत्त्व का बोध कराया गया है । यद्यपि सूर्य्य चन्द्र आदि जड़ है, चेतन नहीं हैं, उनके डरने न डरने का प्रश्न उत्पन्न नहीं होता, तथापि उनके टूटने, नष्ट होने की सम्भावनाएँ तो अवश्य हैं ; किन्तु वे अपने नियत समय से पूर्व कभी नष्ट-भ्रष्ट नहीं होते । इसका कारण यह है कि ये अपने निर्माता-विधाता के नियमरूप आदेश में रहते हैं, उससे इधर-उधर नहीं होते ; इसी भाँति जो मनुष्य इस तत्त्व को समझकर उस महाप्रबल केवल परमेश्वर की शरण में जाता है । अपने-आपको उसके अर्पण कर देता है, उसे कहीं से भय नहीं हो सकता ।

'परोपकार'

मनुष्य तनिक गम्भीरता से विचारे, तो उसे प्रतीत होगा कि उसका जीवन पल-पल में दूसरों से सहायता और उपकार ग्रहण कर रहा है। जीवन-यात्रा-सम्बन्धी उसकी कोई भी क्रिया ऐसी नहीं, जिसे वह सर्वथा दूसरों से निरपेक्ष होकर कर सके। इस वास्ते उसे भी दूसरों की सहायता-सेवा अवश्य करनी चाहिये। ऋषि ने इस विषय में क्या ही सुन्दर उपदेश प्रदान किया है—

"यदि अपना भला ही करना उद्देश्य है, तो मनुष्यता क्या हुई? अपने भले का भाव तो गदहों में भी पाया जाता है। पशुमात्र अपने लिए जीता है। परोपकार और परहितसाधन का नाम ही मनुष्यत्व है।"

"जैसे परमेश्वर ने सब प्राणियों के सुख के अर्थ इस इस जगत् के सब पदार्थ रचे हैं, वैसे मनुष्य को भी परोपकार करना चाहिए।"

दान से धन नहीं घटता

न वा उ देवाः क्षुधमिद्वधं ददुरुताऽशितमुप गच्छन्ति मृत्यवः ।
उतो रयिः पृणतो नोपदस्यत्युताऽपृणन् मर्डितारं न विन्दते ॥
ऋ० १०।११७।१॥

(देवाः) देवों ने, दैवी शक्तियों ने (वै—उ) निश्चय से (क्षुधम् इत् वधम्) भूख ही वध=मौत (न ददुः) नहीं दी, (अशितम् उत) [वरन्] खाने वाले को भी (मृत्यवः) मौतें, दुःखक्लेश मृत्यु के साधन (उप+गच्छन्ति) प्राप्त होते हैं। (पृणतः उतो रयिः) दानी का तो धन (न उप+दस्यति) नहीं नष्ट होता, क्षीण नहीं होता।

(उत अपृणन्) वरन् दान न देने वाला (मर्डितारम्) सुख देने वाले [मित्र] को (न विन्दते) नहीं प्राप्त करता है।

लोगों को यह भ्रम चित्त से निकाल देना चाहिए कि भूख ही मारने वाली है। मौत तो भरपेट खाने वालों को भी आ पकड़ती है। प्राण छूटने के अतिरिक्त एक मृत्यु और है, वह है जीते जी दुःखी रहना, अप्रसन्न रहना। जिसने किसी को प्रसन्न करने का, किसी को भी सुखी करने का कभी यत्न नहीं किया, उसे प्रसन्नता वा सुख कैसे मिल सकता है? यदि प्रसन्न होने की अभिलाषा हो, तो दूसरों को प्रसन्न करने का यत्न करो। मनुष्य, मनुष्य के संसर्ग में अधिक सुखी रहता है, उसके लिए मनुष्यों का संग्रह करना चाहिए। जिन पर मनुष्य कभी दया करता है, कभी आपत्ति के समय जिनकी सहायता करता है, ऐसे मनुष्य ही समय पड़ने पर उपकारी का सुख बढ़ाने वाले करते हैं। दान देने से धन घटता नहीं। धन का फल सुख है। सुख परोपकार से बढ़ता है, अतः मनुष्य को सदा परोपकार में लगे रहना चाहिए।

अदानी का घर घर ही नहीं

न स सखा यो न ददादि सख्ये सचाभुवे सचमानाय पित्वः।
अपास्मात्प्रेयान्न तदोको अस्ति पृणन्तमन्यमरणं चिदिच्छेत् ॥

ऋ० १०। ११७। ४॥

(यः पित्वः सचमानाय) जो अन्न को चाहने वाले (सचाभुवे सख्ये) सहकारी मित्र को (न ददाति) नहीं देता है, (स सखा न) वह मित्र नहीं। (अस्मात् अप+प्रेयात्) इससे दूर चला जाए। (तत् ओकः न अस्ति) [क्योंकि] वह घर नहीं है। (अन्यम् अरणम्) दूसरे सरलता से आश्रय देने वाले, अथवा असम्बन्धी (पृणन्तम् चित् इच्छेत्) दाता को ही चाहे।

जो मनुष्य गरीब पड़ोसी को दान नहीं देता, उसका घर-घर नहीं

है। घर तो वही है, जहाँ हर समय भीड़ लगी रहे। जो आए, यथा-योग्य सत्कार पाए। ऋषिवर ने मानों इस मन्त्र को सामने रख कर आदेश किया है—

"अन्न जल का दान कोई भी भूखा प्यासा मिले, उसे दे देना चाहिए। ऐसा दान पहले अपने दीन दुःखी पड़ोसी को देना चाहिए। पास के रहने वाले का दारिद्रच दूर करने में सच्ची अनुकम्पा और उदारता को अवकाश मिलता है। इससे वाहवाह नहीं मिलती, इस-लिए अभिमान को भी अवकाश नहीं मिलता। समीपस्थ दुःखी को देखकर और पीड़ित को अवलोकन करके ही दया, अनुकम्पा और सहानुभूति आदि हार्दिक भाव प्रकट होते हैं। जो समीपवर्त्ती दीन-दुखिया जन पर तो दया आदि भावों को नहीं दिखलाता किन्तु दूरस्थ मनुष्यों के लिए उनका प्रकाश करता है, उसे दयावान्, अनुकम्पाकर्त्ता और सहानुभूतिप्रकाशक नहीं कह सकते। ऐसे मनुष्यों का दान बाहर का दिखावा और ऊपर का आडम्बर है। दान आदि वृत्तियों का विकास दीपक की ज्योति की भाँति समीप से दूर तक फैलना उचित है।"

इस वैदिक और आर्ष उपदेश के अनुसार मनुष्य को सदा दीन दरिद्र पड़ोसियों की अन्नवस्त्र आदि से सहायता करनी चाहिए।

बलवान् दुर्बल की सहायता करे

पृणीयादिन्नाधमानाय तव्यान् द्राघीयांसमनु पश्येत पन्थाम्।
ओ हि वर्त्तन्ते रथ्येव चक्राऽन्यमन्यमुप तिष्ठन्ति रायः॥
ऋ० १०। ११७। ५॥

(तव्यान् नाधमानाय) बलवान् मनुष्य दुःखी को (इत् पृणीयात्) अवश्य प्रसन्न करे (द्राघीयाँसम् पन्थाम्) अतिदीर्घ [जीवन] पथ को (अनु+पश्येत) विचार से देखे। (रायः रथ्या) धन रथ के (चक्रा+इव+उ+हि) चक्रों की भाँति सचमुच ही (आ+वर्त्तन्ते) घूमते

रहते हैं, (अन्यम्+अन्यम्) [और] एक के बाद दूसरे के (उप+तिष्ठन्ति) पास चले जाते हैं।

बलवान् निर्बलों, दुःखियों, पीड़ितों की अवश्य सहायता करे। उसे दीर्घ दृष्टि से काम लेना चाहिए। दुःख-सुख सभी पर आ सकते हैं। धन-सम्पत्ति का मान और विश्वास नहीं करना चाहिए, ये तो रथ के पहियों की भाँति घूमते रहते हैं, ऊपर-नीचे होते और आते-जाते रहते हैं; आज एक के पास हैं, कल दूसरे के पास। अतः इस आने-जाने वाले धन से किसी का भला करके स्थायी लाभ लेना ही बुद्धिमत्ता है।

बाँट के खाना चाहिए

मोघमन्नं विन्दते अप्रचेताः सत्यं ब्रवीमि वध इत्स तस्य।
नार्यमणं पुष्यति नो सखायं केवलाघो भवति केवलादी॥

ऋ० १०।१७१।६॥

(अप्रचेताः अन्नम्) मूर्ख, बेसमझ मनुष्य अन्न को (मोघम् विन्दते) व्यर्थ ही प्राप्त करता है। (सत्यम् ब्रवीमि) सच कहता हूँ (सः तस्य) वह [धनलाभ] उसके लिए (वधः इत्) मौत—हत्या ही [है,] (न) [जो] न तो (अर्यमणम्) माननीय की, उत्तम मानवाले की (पुष्यति) पुष्टि करता है, पालना करता है (न) [और] न ही (सखायम्) मित्र की [पालना करता है] (केवलादी) अकेला खाने वाला (केवलाघः) केवल पापी ही (भवति) होता है।

जिसे धन की चंचलता, अस्थिरता का बोध नहीं है, उसे वेदमन्त्र में अप्रचेताः=बेसमझ कहा गया है। समझदार जानता है कि एक दिन धन चला जाएगा। अतः वह इसका मित्रों, धर्मात्माओं और पात्रों में विनियोग करके सुखसाधन जुटाता है। इसके विपरीत जो कंजूस किसी दुःखी के दुःख दूर करने का यत्न नहीं करता उसके लिए यही धन विपत्ति और मृत्यु का कारण बन जाता है। धनी

सदा ही भयभीत रहता है। उसका आत्मिक बल और मानसिक सामर्थ्य धन के भार से दबकर नष्ट हो जाते हैं। अकेले खाना पाप खाना है। जैसे भय, लज्जा और संकोच के कारण पापी मनुष्य पाप के लिए एकान्त स्थान खोजता है, किसी के सामने पाप करने का साहस नहीं करता, इसी प्रकार अकेला खाने वाला भी मानो, पापी है, अन्यथा वह अकेला न खाता, साथ खाता, बाँट के खाता।

सब एक समान नहीं होते

समौ चिद्धस्तौ न समं विविष्टः सम्मातरा चिन्न समं दुहाते।
यमयोश्चिन्न समा वीर्य्याणि ज्ञाती चित्सन्तौ न समं पृणीतः॥
ऋ० १०।११७।९॥

(हस्तौ) दोनों हाथ (सम+चित्) समान होते हुए भी (समम् न विविष्टः) समान, एक-जैसे नहीं व्यापते। (सम्मातरा चित्) एक माँ की होती हुई भी (समम् न दुहाते) एक-समान नहीं दूध देती हैं। (यमयोः चित्) जोड़िये दो भाइयों के भी (वीर्य्याणि) सामर्थ्य (समा न) बराबर नहीं होते। (ज्ञाती+सन्तौ+चित्) नातेदार होते हुए भी (समम्+न) एक-समान नहीं (पृणीतः) प्रसन्न करते, पालते, दान करते।

मनुष्य के दो हाथ है, किन्तु दोनों में एक-समान बल नहीं होता। एक माँ से उत्पन्न हुई दो गौएँ एक-सा दूध नहीं देती। जौड़िये भाई एक-साथ पैदा होने पर भी एक-जैसे बलवान् नहीं होते। एक परिवार में उत्पन्न होकर दो मनुष्यों की भावना एक-जैसी नहीं होती। वेद इतने उदाहरण देकर एक गहन तत्त्व मनुष्यों के हृदय पर अंकित कराना चाहता है। वह है दूसरों की सहायता करना। मनुष्य मनुष्य आकार में समान होते हुए भी धनादि सामर्थ्य में असमान होते हैं। जैसा कि हाथ आदि के दृष्टान्तों द्वारा वेद ने समझाया है। जब मनुष्यों में धनादि के कारण असमानता है, विषमता है, तब अशान्ति

का उत्पन्न होना स्वाभाविक है। उस अशान्ति को रोकने का एक ही उपाय है कि जिनको अन्न-धन की कमी है, उनकी यथाशक्ति, यथासम्भव अन्नादि से सहायता की जाये। आरम्भ के मन्त्रों में वेद ने दान की प्रेरणा की और इस मन्त्र में दृष्टान्तों द्वारा दान करने के कारण सुझा दिये हैं।

सन्मार्ग से न हटें

मा प्रगाम पथो वयं मा यज्ञादिन्द्र सोमिनः।
मान्तः स्थुर्नो अरातयः॥ अ० १३। १। ५९॥

(वयम् सोमिनः) हम ऐश्वर्य्य-सम्पन्न होकर (पथः मा) मार्ग से, सन्मार्ग से मत (प्रगाम) दूर जाएँ। (इन्द्र) हे परमैश्वर्य्यप्रदात! (यज्ञात्) यज्ञ से, परोपकार से (मा) मत [हम दूर जाएँ।] (अरातयः) दान न देने वाले (नः+अन्तः—मा+स्थुः) हमारे बीच मे मत ठहरें।

धन में मद होता है, अतः बहुधा धन प्राप्त करके मनुष्य उन्मत्त हो जाता है, और सन्मार्ग से विचलित होकर कुमार्गगामी बन जाता है। भक्त भगवान् से प्रार्थना करते हैं कि 'प्रभो! धन तो हमें अवश्य दे किन्तु इसमें से उन्मादविष निकाल दे, यह हमें उन्मत्त न करने पाए। परोपकार, सद्व्यवहार की भावना का विलोप न हो। हममें सभी दानी हों, कोई कंजूस=समाजशत्रु न हो।'

दाता का अक्षय यश

यो वाघते ददाति सूनरं वसु स धत्ते अक्षिति श्रवः।
तस्मा इळां सुवीरामा यजामहे सुप्रतूर्त्तिमनेहसम्॥
ऋ० १। ४०। ४॥

(यः वाघते) जो विद्वान् को (सूनरम् वसु) उत्तमजन-योग्य धन (ददाति सः) देता है वह (अक्षिति श्रवः) अखुट, अक्षय यश (धत्ते)

धारण करता है। (तस्मै) उसके लिए (सुवीराम) उत्तम वीरों वाली, उत्तम वीरों को पैदा करने वाली (सुप्रतूर्त्तिम्) दुर्गुणों को अच्छी तरह नाश करने वाली (अनेहसम्) निर्दोष (इळाम्) वाणी को, पृथ्वी को (आ+यजामहे) सब ओर से, संगत करते हैं।

विद्वान् को दान देने से कीर्त्ति स्थिर होती है। विद्वान् के यश के साथ दाता की कीर्त्तिपताका भी सदा लहराती रहती है। विद्वान् लोग ऐसे दाता की सदा भरपूर स्तुति किया करते हैं।

सैकड़ों कमा, हजारों दे

शतहस्तः समाहर सहस्रहस्तः संकिर।
कृतस्य कार्य्यस्य चेह स्फातिं समा वह॥

ऋ० ३।२४।५॥

(शतहस्तः) सैकड़ों हाथों वाला होकर (सम्+आ हर) इकट्ठा करके ला। (सहस्रहस्तः) हज़ारों हाथों वाला होकर (सं+किर) समदृष्टि से बिखेर, दान दे। (कृतस्य+च) किये हुए कर्म का और (कार्य्यस्य) आगे किये जाने वाले कर्म्म का (स्फातिम्) विस्तार (इह) इसी संसार में, इसी जन्म में (सम्+आ—वह) भली प्रकार सर्वथा प्राप्त कर।

मनुष्य के दो हाथ हैं, अर्थात् अल्प-शक्ति है किन्तु उसे विद्या, धर्म्म, धन, गुण आदि के अर्जन में सैकड़ों गुणा उत्साह से लगना चाहिए। कमाये हुए धनादि के दान में हज़ारों गुणा उत्साह दिखाना चाहिए। अपने कर्म्मों का निपटारा यहीं कर जाना चाहिए।

दाता का धन सुफल

तवोतिभिः सचमाना अरिष्टा बृहस्पते मघवानः सुवीराः।
ये अश्वदा उतवा सन्ति गोदा ये वस्त्रदाः सुभगास्तषु रायः॥

ऋ० ५।४२।१॥

(बृहस्पते) बड़े-बड़े लोकलोकान्तरों के पालक ! प्रभो ! (सुवीराः (मघवानः) उत्तम वीर धनी लोग (तव ऊतिभिः) तेरी रक्षाओं से, प्रीतियों से (सचमानाः) युक्त हुए (अरिष्टाः) कष्ट-क्लेश विपत्ति-व्याधि से रहित रहते हैं। (ये+अश्वदा) जो घोड़ों=वाहन साधनों के देने वाले (उत+वा) अथवा (गोदाः) गौओं=दूध देने वाले पशुओं के देने वाले हैं (ये+वस्त्रदाः) [और] जो वस्त्र देने वाले हैं (रायः तेषु सुभगाः) धन उन्हीं में सुफल हैं।

केवल धन एवं तन-बल से मनुष्य अपनी रक्षा नहीं कर सक्ता, अपितु धन, जन एवं तन बल के साथ भगवान् की कृपा अवश्य चाहिए। भगवत्कृपाप्राप्ति के लिए मनुष्य को भगवान् की सन्तान का अन्नदान, वस्त्रदान, अश्वदान, गोदान आदि द्वारा सदा भरण-पोषण करते रहना चाहिए। जो लोग दरिद्रों की आवश्यकता पूरी करते हैं, उन्हीं का धन सुफल है।

परोपकार की भावना उस मनुष्य में स्वाभाविक ही होती है, जो सब जीवों को अपने-जैसा, आत्मवत् समझता है। उसे दूसरे के अभाव देखकर अपना स्मरण हो आता है, और वह दूसरों के अभाव, दुःख दूर करने के लिए अत्यन्त व्याकुल हो जाता है। दूसरों का अभाव दूर करके उसकी व्याकुलता बेचैनी दूर हो जाती है। इस प्रकार सोचें, तो परोपकार वास्तव में पर-उपकार नहीं, वरन् स्व-उपकार है, क्योंकि उससे अपनी बेचैनी दूर होकर शान्ति मिलती है। अतः शास्त्रों में परोपकार का फल अन्तःकरण की शुद्धि लिखा है। इस वास्ते अन्तःकरण-शुद्धि के लिए परोपकार सदा करते रहना चाहिए।

—*—

बल

आज आर्य्यजाति बलहीन एवं क्षीण हो रही है। बलहीनता के कारण यह सब तरह पादाक्रान्त और परिश्रान्त है। वेद और वैदिक शास्त्र बल की महिमा से भरे पड़े हैं। बलहीन मनुष्य आत्मा को भी नहीं पा सकता। जैसाकि कहा है—'नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः' [मुण्डकोप० ३। २। ४]। सनत्कुमार महाराज ने तो 'बलं वाव विज्ञानाद्-भूयः, अपि ह शतं विज्ञानवतामेको बलवाना कम्पयते=विज्ञान से बल श्रेष्ठ है, सैकड़ों विज्ञानियों को अकेला बलवान् कँपा देता है।' [छा० ७। ८] कहकर बल का माहात्म्य सबके हृदय पर अंकित कर दिया है। शारीरिक, आत्मिक, एवं सामाजिक बल के सम्बन्ध में यहाँ थोड़े-से वेदमन्त्रों का संग्रह किया गया है। पाठक इनका मनन करें।

शरीरबल

पत्थरसमान शरीर

एह्यश्मानमा तिष्ठाश्मा भवतु ते तनूः ।
कृण्वन्तु विश्वे देवा आयुष्टे शरदः शतम् ॥

अ० २। १३। ४॥

(आ—इहि) आ (अश्मानम् आ—तिष्ठ) पत्थर पर पूरी तरह बैठ, पूरा अधिकार कर (ते तनूः) तेरा तन=शरीर (अश्मा भवतु) पत्थर=पत्थर समान दृढ़ होवे (विश्वे देवाः) सम्पूर्ण दिव्यगुण, दिव्य शक्तियाँ, नियम (ते आयुः) तेरी आयु को (शतम् शरदः कृण्वन्तु) सौ सर्दियाँ=वर्ष करें।

मनुष्य को युक्त आहार-विहार के द्वारा अपने शरीर को वज्र के

समान कठोर, दृढ़ और बलिष्ठ बनाने का यत्न करना चाहिए। जब मनुष्य प्राकृतिक नियमों का पालन करता है, तब ये प्राकृतिक नियम उसके अनुकूल होकर उसे स्वाभाविक पूर्ण आयु प्राप्त करने में सहायता देते हैं।

शरीर में बल

बलं धेहि तनूषु नो बलमिन्द्रानळुत्सु नः।
बलं तोकाय तनयाय जीवसे त्वं हि बलदा असि॥

ऋ० ३।५३।१८॥

(इन्द्र) हे बलधारी प्रभो! (नः तनूषु) हमारे शरीरों में (बलम् धेहि) बल दे, धारण करा (नः अनलुत्सु बलम्) हमारे रथवाहकों में बल [दे] (तोकाय तनयाय) शिशु के लिए, सन्तान के लिए (जीवसे बलम्) जीवन के लिए बल [दे] (हि त्वम्) क्योंकि तू (बलदाः असि) बलदाता है।

मनुष्य को उचित है कि वह अपने शरीर तथा रथवाहक= इन्द्रियों को बलवान् शक्तिमान् बनाए। निर्बल इन्द्रियों वाला मनुष्य अपने कार्य्य भली प्रकार नहीं कर सकता, वह अतिमात्र दूसरों की अधीनता में रहता है। दुर्बल देह वाले को तो परिवार के लोग भी घृणा की दृष्टि से देखते हैं। अपने साथ सन्तान की, बच्चों की शारीरिक दशा का भी ध्यान रखना चाहिए। इस शक्ति-प्राप्ति का उद्देश्य है जीवन। अशक्तों, असमर्थों का जीना भी कोई जीना है। भगवान् बलदाता है, बल भी उसी से माँगना चाहिए।

यहाँ एक बात का ध्यान कर लेना चाहिये। भगवान् से माँगने का अर्थ है—अपेक्षित वस्तु की प्राप्ति के अनुरूप आचरण करना। शरीरबल माँगते हुए आचरण भी शरीरबल की वृद्धि के अनुरूप होना चाहिए। शरीरबल को क्षीण करने वाले ब्रह्मचर्य्यविरोधी खान-पान, आचार-विचार, आहार-विहार, दुराचार, दुर्व्यसन आदि

दोषों को सर्वथा त्याग देना चाहिए। 'प्रभो! मुझे बल दे' केवल ऐसा बार-बार उच्चारण करने से कोई लाभ नहीं। अतः प्रार्थना के अनुरूप अवश्य करना चाहिए, तभी प्रार्थना प्रार्थना मानी जाएगी।

तेजः आदि की कामना

तेजोऽसि तेजो मयि धेहि वीर्य्यमसि वीर्यं मयि धेहि
बलमसि बलं मयि धेह्योजोऽस्योजो मयि धेहि।
मन्युरसि मन्युं मयि धेहि सहोसि सहो मयि धेहि॥

य० १९। ९॥

(तेजः असि) [तू] तेजस्वी है (मयि तेजः धेहि) मुझमें तेज धारण कर। (वीर्य्यम् असि) [तू] वीर्य्य=शक्तिमान्, निवारण-सामर्थ्यवान् है (मयि वीर्य्यम् धेहि) मुझमें निवारण सामर्थ्य डाल। (बलम् असि) [तू] बल=संवरण-सामर्थ्यवान् है (मयि बलम् धेहि) मुझ में संवरण सामर्थ्य धारण कर। (ओजः असि) [तू] ओज=है (मयि ओजः धेहि) मुझमें ओज का आधान कर। (मन्युः असि) [तू] मन्यु=मनन वाला, पाप के प्रति उग्र है (मयि मन्युं धेहि) मुझ में पाप के प्रति उग्रभाव डाल। (सहः असि) [तू] सहः=सहनशील, मर्षणस्वभाव वाला है (मयि सहः धेहि) मुझमें सहनशीलता, मर्षणस्वभाव का आधान कर।

इस मन्त्र में भगवान् से शक्ति=बल के विविध रूपों की प्राप्ति के लिए प्रार्थना की गई है। तेज, वीर्य्य, बल, ओजः, मन्यु और सहः ये यद्यपि साधारणतया पर्य्यायवाची=एकार्थक शब्द माने जाते हैं, किन्तु वास्तव में ये भिन्न-भिन्न अर्थों के वाचक हैं। यह ठीक है कि इनका भेद सूक्ष्म है। तनिक विचार से देखें, तो इनमें कार्यकारण भाव स्पष्ट दिखाई दे रहा है। किसी मनुष्य में तेज का होना तभी माना जा सकता है, जब उसमें विरोध को दूर करने का सामर्थ्य हो। विरोध के दूर करने का सामर्थ्य तभी सम्भव हो सकता है, जब

संवरणसामर्थ्य=अनुकूलवर्ग के संग्रह की योग्यता हो। अनुकूल वर्ग के संग्रह की योग्यता ओजः=प्रभाव=दूसरों को अपने विचारानुसार आचार वाला बनाने की अलक्ष्य प्रेरणाशक्ति के बिना साध्य नहीं होता। ओजः मन्यु=भद्राभद्र विचार, और पाप के प्रति उग्र भाव के बिना नहीं हो सकता। और मन्यु=पाप के प्रति उग्र भाव सहः=सहनशीलता के बिना सम्भव नहीं। अर्थात् तेजस्विता के अभिलाषी मनुष्य को अपने अन्दर सबसे पूर्व सहनशीलता उत्पन्न करनी चाहिए। जो सहनशील नहीं, उसमें मन्यु=भद्राभद्रविवेक और पाप के प्रति उग्र भाव पैदा नहीं हो सकते। पाप के प्रति उग्र भावों के बिना ओजः=दूसरों को प्रभावित करने का सामर्थ्य नहीं आ सकता। ओज के बिना बल=अनुकूल वर्ग का संग्रह नहीं हो सकता। बल के बिना वीर्य्य=विरोध-निवारण-सामर्थ्य नहीं होता है। वीर्य्य के बिना तो मनुष्य हततेजस्क होता है। सहनशीलता के द्वारा मन्यु की वृद्धि करते हुए ओजस्वी बनकर बल-वीर्य्य की सम्पत्ति से सम्पन्न मनुष्य ही तेजस्वी हो सकता है।

शक्ति का अटूट भण्डार सर्वशक्तिमान् भगवान् हैं, अतः इन सामर्थ्यों के लिए भगवान् से ही अभ्यर्थना करनी चाहिए। जिस-जिस सामर्थ्य की आवश्यकता हो, उस-उस सामर्थ्य के धनी के रूप में भगवान् को अनुभव करते हुए वह-वह सामर्थ्य भगवान् से माँगनी चाहिये। इस भाव के अनुसार भगवान् को तेज, वीर्य्य, बल, ओज, मन्यु और सहः के अपार भंडार के रूप में अनुभव करके उससे इन सामर्थ्यों को माँगा गया है।

यह कभी न भूलना चाहिए कि वैदिक-सिद्धान्त में पुरुषार्थशून्य, आचार से विसंवादी शाब्दिक प्रार्थना का कोई अर्थ नहीं।

शक्ति का ज्ञान

**बलविज्ञाय: स्थविर: प्रवीर: सहस्वान् वाजी सहमान उग्र: ।
अभिवीरो अभिषत्वा सहोजिज्जैत्रमिन्द्र रथमातिष्ठ गोविदन् ।।**

अ० १९ । १३ । ५ ।।

(इन्द्र) हे इन्द्र! (बलविज्ञाय:) शक्ति को जानने वाला (स्थविर: प्रवीर:) स्थिर, दृढ़ श्रेष्ठ वीर (सहस्वान् वाजी) बल सम्पन्न वेग वाला (सहमान: उग्र:) सहनशील, धैर्य्य वाला उग्र (अभिवीर:) वीरों से घिरा हुआ (अभिषत्वा) सम्मुख आए हुओं को नाश करने वाला (सहोजित्) बलवानों को जीतने वाला (गोविदन्) [और] पृथिवी की प्राप्ति की कामना वाला तू (जैत्रम् रथम् आ+तिष्ठ) जयशील रथ पर बैठ।

विजय-यात्रा के अभिलाषी को सबसे पहले अपनी शक्ति का ज्ञान करना चाहिए। कई लोगों को, होते हुए भी, अपनी शक्ति का भान और ज्ञान नहीं होता, ऐसे लोग बलसाध्य कार्य्य में प्रवृत्त ही नहीं होते। कइयों को अपनी शक्ति का अशुद्ध अनुमान होता है, अल्प शक्ति वाले होते हुए भी अपने को वे बहुत शक्तिमान मानते हैं, वे शक्ति के मिथ्या अभिमान से कारण कार्य्य में प्रवृत्त अवश्य हो जाते हैं, किन्तु बुरी तरह असफल होते हैं। अत: कार्य्य में सफलता-प्राप्ति के लिए अपने बल का यथार्थ ज्ञान होना अत्यन्त आवश्यक है। बलज्ञान के साथ दृढ़ता का होना भी अत्यन्त आवश्यक है। दृढ़ता के साथ वीरता के भाव भी भरपूर हों। साथ ही उसमें आवेश और उद्वेग होना चाहिए। सहमानता=धीरता और तेजस्विता उसके पास वीरों का जमघट कर देती है ऐसा वीर पुरुष अवश्यमेव शत्रु पर विजय-लाभ करता है। भाव यह है कि सब कार्य्यों का मूल बल है। निर्बल मनुष्य संसार में कुछ नहीं कर सकता। अत: अपने बलाबल का ज्ञान करके अपने में बलाधान के लिए सदा यतमान रहना चाहिए।

बल का मूल

इदं वर्चो अग्निना दत्तमागन्भर्गो यशः सह ओजो वयो बलम् ।
त्रयस्त्रिंशद्यानि च वीर्य्याणि तान्यग्निः प्र ददातु मे ॥

अ० १९ । ३७ । १ ॥

(अग्निना दत्तम्) अग्नि से दिया हुआ (इदम् वर्चः) यह वर्च (भर्गः) पापनाशक तेज (यश) कीर्त्ति (सहः ओजः वयः) सहनशीलता ओज कान्ति, आयु (बलम् आ+अगन्) बल सब ओर से प्राप्त हुए हैं। (च यानि त्रयस्त्रिंशत्) और जो तेंतीस (वीर्य्याणि) सामर्थ्य [हैं] (अग्निः तानि) अग्नि=ज्ञानस्वरूप परमात्मा वे (मे प्र+ददातु मुझे अच्छी तरह देवे।

शरीर के अन्दर जो बल सामर्थ्य है, वह शरीरधारी भौतिक अग्नि तथा जगद्रक्षक सबके उन्नतिसाधक अग्नि=भगवान् के कारण से है, इसी वास्ते इस मन्त्र में प्राप्त शक्तियों को अग्नि की देन कहा है, और तेंतीस शक्तियाँ भी अग्नि से ही माँगीं हैं। ये तेंतीस शक्तियाँ ब्रह्म के तेंतीस देवों के रूप में इस जगत् में कार्य्य करती हैं। जैसा-कि अ० १०। ७। २७ में कहा है—

यस्य त्रयस्त्रिंशद्देवा अंगे गात्रा विभेजिरे ।
तान्वै त्रयस्त्रिंशद्देवानेके ब्रह्मविदो विदुः ॥

(यस्य अंगे) जिसके बोधक, अथवा ब्रह्माण्डरूप शरीर में (त्रयस्त्रिंशत् देवाः) तेंतीस देव (गात्रा विभेजिरे) शरीरों का विशेष सेवन करते हैं या विभाग करते हैं (तान् त्रयस्त्रिंशत् देवान्) उन तेंतीस देवों को (एके ब्रह्मविदः) कई, विरले ब्रह्मवेत्ता ही (विदुः) जानते हैं।

शरीर में तेंतीस देवता किस भाँति कार्य्य करते हैं, इसे हरएक नहीं जान सकता। कोई विरला ब्रह्मवेत्ता ही इस रहस्य को जानता

है। आठ वसु, ग्यारह रुद्र, बारह आदित्य, इन्द्र और प्रजापति ये तेंतीस देवता हैं।

बल का फल

वर्च आ धेहि मे तन्वां ३ सह ओजो वयो बलम् ।
इन्द्रियाय त्वा कर्मणे वीर्य्याय प्रतिगृह्णामि शतशारदाय ॥
अ० १९। ३७। २॥

(मे तन्वाम् वर्चः) मेरे शरीर में वर्च (सहः ओजः वयः) सहनशीलता, ओज कान्ति, आयु (बलं आ+धेहि) शक्ति धारण कर (त्वा इन्द्रियाय) तुझको इन्द्रशक्ति के लिए, इन्द्रिय के लिए (वीर्य्याय) पराक्रम के लिये (कर्म्मणे शतशारदाय) कर्म्म करने के लिए सौ वर्ष जीने के लिए (त्वा प्रतिगृह्णामि) तुझे स्वीकार करता हूँ।

शरीर में वर्चः बल आदि का फल इन्द्रियों का विकास, कार्य्य में उल्लास, और पूर्ण आयु का प्रकाश होना चाहिए। यहाँ इसके लिये अपने अन्दर अग्नि धारण करने की बात कही है। अर्थात् वर्च आदि के साधनों के अनुष्ठान का संकल्प किया है।

ऊर्जे त्वा बलाय त्वौजसे सहसे त्वा ।
अभिभूयाय त्वा राष्ट्रभृत्याय पर्य्यूहामि शतशारदाय ॥
अ० १९। ३७। ३॥

(त्वा ऊर्जे बलाय) तुझको प्राणशक्ति का कारण, बल का कारण (त्वा बलाय सहसे) [और] तुझको बल का कारण, सहनशीलता का कारण (त्वा अभिभूयाय) [और] तुझको दबाने का कारण (राष्ट्रभृत्याय) राष्ट्ररक्षा का कारण (शतशारदाय) एवं सौ वर्ष की पूरी आयु का कारण (परि-ऊहामि) पूरी तरह विचारता हूँ।

प्रत्यक्षादि प्रमाणों से निश्चित होता है कि मनुष्य के अन्दर जीवन का कारण परमात्मा-अग्नि, जीव-अग्नि एवं भौतिक अग्नि

है। यही अग्नि जहाँ शारीरिक बल का कारण है, वहाँ वह आत्मिक एवं राष्ट्रीय=सामाजिक बल का हेतु भी है। अतः सदा सर्वदा इस अग्नि का चयन करते रहना चाहिए।

इन्द्रियशक्ति

वाङ् म आसन्नसोः प्राणश्चक्षुरक्ष्णोः श्रोत्रं कर्णयोः ।
अपलिताः केशा अशोणा दन्ता बहु बाह्वोर्बलम् ॥
अ० १९ । ६० । १ ॥

ऊर्वोरोजो जङ्घयोर्जवः पादयोः ।
प्रतिष्ठा अरिष्टानि मे सर्वात्मानि भृष्टः ॥
अ० १९ । ६० । २ ॥

(मे आसन् वाक्) मेरे मुख में वाणी, वाचा-शक्ति, (नसोः प्राणः) नाकों में प्राणः, जीवनशक्ति (अक्ष्णोःचक्षुः) आँखों में चक्षु=दर्शनशक्ति, (कर्णयोः श्रोत्रम्) कानों में श्रोत्र, श्रवणशक्ति, (केशाः अपलिताः) बाल अश्वेत=काले, (दन्ताः अशोणाः) दाँत मलरहित (बाह्वोः बहु बलम्) भुजाओं में बहुत बल, (ऊर्वोः ओजः) ऊरुओं में शक्ति, (जङ्घयोः जवः) जांघों में वेग, (पादयोः) प्रतिष्ठा =पैरों में दृढ़ स्थितिशक्ति हो। (अरिष्टानि) [सब अंग] त्रुटि-रहित हों (मे सर्वात्मा) मे सम्पूर्ण देह, (अनिभृष्टः) निर्दोष हो।

सन्ध्या के 'ओ३म् वाक् वाक्' आदि आर्ष वचन इन दो मन्त्रों का अनुवाद है। देखिए—

ओ३म् वाक् वाक्=वाङ् म आसन्
ओ३म् प्राणः प्राणः=नसोः प्राणः
ओ३म् चक्षुः चक्षुः=अक्ष्णोः चक्षुः
ओ३म् श्रोत्रः श्रोत्रम्=श्रोत्रं कर्णयोः

ये वाक्य दोनों में समानार्थक हैं। सन्ध्या में इन मन्त्रों के भाव को लेकर-'ओं नाभिः, ओं हृदयम्, ओं कण्ठः ओं शिरः, ओं

करतलकरपृष्ठे', वचन अधिक हैं। इनके बोधक मूल वेदवचन यह है—अरिष्टानि में सर्वात्मानिः भृष्टः। इसमें सारे अंगों और सम्पूर्ण देह की निर्दोषता की कामना की गई है। आत्मा शब्द का अर्थ मन तथा आत्मा भी होता है, उस दृष्टि से वेदमन्त्र बहुत व्यापक हो जाता है। शरीर से आगे मन और आत्मा की शक्ति की कामना भी आ जाती है।

अपलिताः केशाः, अशोणाः दन्ताः।
ऊर्वोराजो जङ्घयोर्जवः पादयो प्रतिष्ठा ॥

वाक्य अधिक हैं। आज तो इन वाक्यों के पढ़ने एवं मनन करने की बहुत आवश्यकता है। आज तो बालकों के बाल श्वेत हो रहे हैं और दाँत शोण=गन्दे हो रहे हैं। आज हमारे बालकों का 'वृद्धत्वं जरसा विना'=वृद्धावस्था के बिना ही बुढ़ापा आ गया है। टाँगों में सामर्थ्य नहीं, पैर टिकते नहीं। अतः इन वैदिक भावों के प्रचार की आज बहुत अधिक आवश्यकता है।

ध्यान से विचारें तो 'ओं कण्ठः' 'अशोणा दन्ताः' से चरितार्थ है, और 'ओं शिरः' का भाव 'अपलिताः केशाः' में अधिक स्पष्टता से विद्यमान है। 'सर्वात्मा—' में 'ओं हृदयम्' और 'ओं नाभिः' का भाव बहुत सुन्दर रीति से संनिविष्ट है। हाँ 'ऊर्वोरोजो—प्रतिष्ठा' अधिक है। यही वेद की महिमा है।

बल का हेतु तप

भद्रमिच्छन्त ऋषयः स्वर्विदस्तपो दीक्षामुपनिषेदुरग्रे।
ततो राष्ट्रं बलमोजश्च जातं तदस्मै देवा उप संनमन्तु ॥

अ० १९।४१।१॥

(भद्रम् इच्छन्तः) भलाई चाहने वाले (स्वर्विदः ऋषयः) सुख के साधनों को जानने वाले ज्ञानी (अग्रे तपः दीक्षाम्) पहले तप [और] दीक्षा को (उपनिषेदुः) सेवन करते हैं। (ततः राष्ट्रम् बलम्) तब

उससे राष्ट्रबल (ओजः) [और] ओजः प्राप्त (जातम्) होता है (तत् देवाः) उसके पश्चात् विद्वान्, दिव्य गुण (अस्मै उप-सं-नमन्तु) उसके समीप में झुकते हैं।

जो आत्मकल्याण चाहते हैं, उन्हें पहले साधनों का ज्ञान प्राप्त करना चाहिए। लौकिक और पारलौकिक सभी प्रकार के कल्याणों के साधन तप और दीक्षा हैं। इससे राष्ट्रबल, शरीरबल एवं मस्तिष्क-बल प्राप्त होते हैं। त्रिविध बलों के इस बली का सभी ज्ञानी मान करते हैं, सभी गुण इसे अनायास प्राप्त होते हैं।

शरीरपुष्टि

ममाग्ने वर्चो विहवेष्वस्तु वयं त्वेन्धानास्तन्वं पुषेम।
मह्यं नमन्तां प्रदिशश्चतस्रस्त्वयाध्यक्षेण पृतना जयेम॥

अ० ५।३।१॥

(अग्ने) हे नेतः! (विहवेषु मम वर्चः अस्तु) युद्धों में मेरा तेज हो। (त्वया इन्धाना वयम्) तुझसे प्रकाश करते हुए हम (तन्वम् पुषेम) शरीर को पुष्ट करें (चतस्रः प्रदिशः) चारों प्रदिशाएँ (मह्यम् नमन्ताम्) मुझे नमस्कार करें (त्वया अध्यक्षेण) तुझ अध्यक्ष के द्वारा (पृतनाः जयेम) युद्धों को, उपद्रवों को हम जीतें।

शरीर की पुष्टि करके दिग्विजय करना चाहिए। दुर्बलतनु का तेज कहाँ? हृष्ट-पुष्ट तेजस्वी मनुष्य का ही आतंक होता है।

शरीरमाहात्म्य

अयं लोकः प्रियतमो देवानामपराजितः।
यस्मै त्वमिह मृत्यवे दिष्टः पुरुष जज्ञिषे।
स च त्वानु ह्वयामसि मा पुरा जरसो मृथा॥

अ० ५।३०।१७॥

(अयम् अपराजितः) यह अपराजित, न हारा हुआ (लोकः)

कर्म्मफल भोगनें का साधन, मनुष्यदेह (देवानाम्) दिव्य गुणवाले महात्माओं का (प्रियतमः) अत्यन्त प्यारा है। (पुरुष) हे पुरुष ! जीव ! (यस्मै त्वम्) यतः तू (मृत्यवे प्रदिष्टः) मृत्यु के लिए प्रदिष्ट हुआ, नियत हुआ (इह जज्ञिषे) इस संसार में उत्पन्न हुआ है (च सः त्वा) और ऐसा [मैं] तुझको (अनु+ह्वयामयि) अनुकूलता से पुकारता हूँ (मा जरसः) मत बुढ़ापे से (पुरा मृथाः) पहले तू मर।

मानवदेह ही एक ऐसा देह है, जिसमें आकर जीव मुक्ति प्राप्त कर सकता है; अतः यह शरीर ज्ञानियों को अत्यन्त प्यारा है। जन्म मृत्यु को सूचना देता है। आत्मा का देह के साथ संयोग इस के अवश्य होने वाले वियोग की सूचना दे रहा है। इस दार्शनिक और प्रत्येक के अनुभव में आने वाले सिद्धान्त का 'यस्मै...जज्ञिरे' द्वारा बोध कराया गया है। मनुष्य को आहार-व्यवहार, आचार-विचार बनाना चाहिये जिससे वृद्धावस्था से पूर्व प्राण उसका त्याग न करे।

शास्त्र में कहा है—'शरीरमाद्य खलु धर्म्मसाधनम्।' शरीर धर्म्म का मुख्य साधन है। शरीर में यदि थोड़ा सा भी विकार हो जाए, तो विकलता उत्पन्न हो जाती है। उस समय कोई शारीरिक या आत्मिक क्रिया नहीं हो सकती। इस वास्ते वेद शरीर को दृढ़, पुष्ट, बलिष्ठ बनाने का उपदेश करता है। शरीर को तुच्छ और हेय मानना, और खराब करना वेद के विरुद्ध है।

आत्मिक बल

शरीर आत्मा के रहने और भोग प्राप्त करने का स्थान है, इन्द्रियाँ उसके करण = हथियार हैं। आत्मा इनसे पृथक् है। उस की उन्नति ही वास्तविक उन्नति है। इस लक्ष्य को सामने रखकर यहाँ कुछ वेदमन्त्र दिये जाते हैं। इनके अनुसार आचरण करने से आत्मा की शक्ति के विकास के साथ शाश्वत शान्ति भी मिलेगी।

मनुष्य बन

तन्तुन्तन्वनूजसो भानुमन्विहि ज्योतिष्मतः पथो रक्ष धिया कृतान्।
अनुल्बणं वयत जोगुवामपो मनुर्भव जनया दैव्यं जनम्॥
ऋ० १०।५३।६॥

(रजसः तन्तुम्) संसार का तन्तु=ताना-बाना (तन्वन्) तनता-बुनता हुआ [तू] (भानुम् अनु+इहि) प्रकाश का अनुसरण कर (धिया कृतान्) बुद्धि से बनाए, परिष्कृत किये हुए। (ज्योतिष्मतः पथः) ज्योतिर्मय, प्रकाशयुक्त मार्गों की (रक्ष)=रक्षा कर। (जोगुवाम्) निरन्तर कर्म और ज्ञान का अनुष्ठान करने वालों के (अनुल्बणम् अपः) उलझनरहित कर्म्म का (वयत) विस्तार करो। (मनुः भव) मनुष्य, मननशील हो, बना (दैव्यम् जनम्) [और] देवहितकारी जन को मनुष्यको (जनय) उत्पन्न कर।

वेद का यह ऐसा उपदेश है जो संसार के किसी भी मत, पन्थ या सम्प्रदाय के कथित धर्म्मग्रन्थ में नहीं मिलता। इस मन्त्र में भगवान् ने मनुष्य को उपदेश किया है कि तू मनुष्य बन=विचार-शील बन। मनुष्य बनने के तीन साधन इस वेदमन्त्र में बताए गए

हैं—१. प्रकाश का अनुसरण करना अर्थात् सदा ज्ञानप्राप्ति में लगे रहना। २. ज्योतिर्मय मार्गों की रक्षा करना और उनमें अपना भाग डालना, अर्थात् पूर्वतन पुरुषाओं के पुरुषार्थ से फैले विद्याप्रकाश की रक्षा करना और उस विद्याभण्डार में अपना भी भाग डालना। ३. उलझनरहित कर्म्म करना। इन तीन उपायों के अनुष्ठान से निस्सन्देह मनुष्यता प्राप्त हो सकती है। मनुष्य बन करके ही सन्तुष्ट न रहना चाहिए, वरन् अपने पश्चात् योग्य उत्तराधिकारी भी छोड़ जाना चाहिए। ज्ञानरहित, ज्ञानविरोधी, और पेचीदा बातें और उलझन पैदा करने वाले कर्म्म करने वाला मनुष्य मनुष्यपद का अधिकारी नहीं। संसार में वेद ही ऐसा धर्म्मग्रन्थ है, जो विद्या का विरोधी न होकर विद्याप्रचार का उपदेश देता है। इसी कारण ऋषि, मुनि, महात्मा, वेदाध्यायी जन वेद को विद्यापुस्तक कहते हैं। इस उत्तम विद्यापुस्तक वेद के परित्याग के कारण मनुष्य अधोगति को प्राप्त होता है, और इसके अनुसार आचरण करने से उन्नति के शिखर पर आरूढ़ होता है।

जीवन नष्ट मत कर

यथाहान्यनुपूर्वं भवन्ति यथ ऋतवः ऋतुभिर्यन्ति साधु।
यथा न पूर्वमपरो जहात्येवा धातरायूंषि कल्पयैषाम्॥

ऋ० १०।१८।५

(यथा+अहानि अनुपूर्वं) जैसे–दिन एक के पीछे दूसरा इस क्रम से (भवन्ति) होते हैं, (यथा+ऋतवः ऋतुभिः) जैसे ऋतुएँ ऋतुओं के साथ (साधु+यन्ति) ठीक नियम से प्राप्त होती हैं (यथा—अपरः) जैसे बाद में होने वाला [काल] (पूर्वम् न+जहाति) पहले [काल] को नहीं छोड़ता है (धातः) हे जीवन धारण करने वाले! (एवा—आयूंषि) ऐसे ही, जीवन हैं (एषाम्—इनको) जीवन के दिनों को (कल्पयस्व) सफल कर, व्यर्थ न कर।

जीवन को अनुक्रम से शुभ कर्म्मों में लगाना चाहिए। जीवन की सफलता इसी में है कि एक के बाद दूसरा शुभ कार्य्य होता रहे।

जो जागत है सो पावत है

यो जागार तमृचः कामयन्ते यो जागार तमु सामानि यन्ति।
यो जागार तमयं सोम आह तवाहमस्मि सख्ये न्योकाः॥

ऋ० ५।४४।१४॥

(यः+जागार तम्) जो जागता है उसको (ऋचः) वेद के पद्यात्मक मन्त्र, ज्ञान (कामयन्ते) [मानो] चाहते हैं। (यः=जागार—तम्—उ) जो जागता है उसको ही (सामानि) वेद के गानमय मन्त्र, शान्ति (यन्ति) पहुँचते हैं। (यः—जागार) जो जागता है (तम्—अयम्) उसको यह (सोमः आह) संसारसुख [मानो] कहता है (अहम्—तव सख्ये) मैं तेरी मैत्री के कारण (न्योकाः अस्मि) अच्छे घर वाला हूँ।

निरालस्य, अप्रमादी, सावधान मनुष्य को ही ज्ञान-विज्ञान की सिद्धि तथा शान्ति के साधन प्राप्त होते हैं। संसार भी ऐसे महापुरुष का मान करता है।

मोह आदि शत्रुओं का नाश

उलूकयातुं शुशुलूकयातुं जहि श्वयातुमुत कोकयातुम्।
सुपर्णयातुमुत गृध्रयातुं दृषदेव प्र मृण रक्ष इन्द्र॥

अ० ८।४।२२॥

(उलूकयातुम्) उल्लू की चाल को (शुशुलूकयातुम्) भेड़िये की चाल को (श्वयातुम्) कुत्ते की चाल को (उत) और (कोकयातुम्) चिड़िया की चाल को (सुपर्णयातुम्) गरुड़ की चाल को (उत) और (गृध्रयातुम) गिद्ध की चाल को (जहि) नाश कर, त्याग दे। (इन्द्र) हे ऐश्वर्य्याभिलाषिन् आत्मन् (रक्षः) [इस] राक्षस को

(दषदा—इव प्र—मृण) मानों पत्थर से, पत्थरसमान कठोर साधन से मसल दे।

आध्यात्मिक तत्त्वों के अनुशीलन करने वाले महात्मा काम-क्रोधादि विकारों को पशुपक्षियों से उपमा दिया करते हैं। उनका यह व्यवहार इस मन्त्र के आधार पर निर्भर रखता है।

उलूक=उल्लू अन्धेरा को पसन्द करता है। इसी प्रकार मोह से मूढ़ जन अज्ञानान्धकार में मस्त रहता है। उलूकयातुम् का भाव हुआ मोह। मोह सब दोषों का मूल है। न्यायदर्शन के वात्स्यायन-भाष्य में लिखा है—'मोहः पापीयान्'=मोह सबसे खराब है।

शुशुलूक=भेड़िया। मोह से राग-द्वेष उत्पन्न होता है। भेड़िया क्रूर होता है, बहुत द्वेषी होता है। शुशुलूकयातुम् का भाव हुआ द्वेष की भावना। द्वेषी मनुष्य में क्रोध की मात्रा बहुत होती है। श्वान्=कुत्ता। कुत्ते में स्वजातिद्रोह तथा चाटुकारिता बहुत अधिक मात्रा में होती है। स्वजातिद्रोह तो द्वेष का एक रूप है, और मत्सर=जलन के कारण होता है। दूसरे की उन्नति न सहना मत्सर होता है और चाटुकारिता लोभ के कारण होती है। लोभ राग के कारण हुआ करता है। श्वयातुम् का अभिप्राय हुआ—मत्सुरयुक्त लोभवृत्ति। लोभवृत्ति की जब पूर्त्ति नहीं होती, तो मत्सर और क्रोध उत्पन्न होते हैं।

कोक=चिड़ा। चिड़ा बहुत कामातुर होता है। कोक का अर्थ हंस भी होता है। हंस भी बहुत कामी प्रसिद्ध है। कोकयातुम् का तात्पर्य हुआ कामवासना।

सुपर्ण=सुन्दर परों वाला=गरुड़। गरुड़पक्षी को अपने सौन्दर्य का बहुत अभिमान होता है। सुपर्णयातुम् का भाव हुआ—अहंकार-वृत्ति=मद।

गृध्र=गिद्ध। गिद्ध बहुत लालची होता है। गृध्रयातुम् का भाव हुआ लोभवृत्ति।

वेद ने इन सबका एक नाम रक्षः=राक्षस रखा है। अर्थात् मोह, क्रोध, मत्सर, काम, मद और लोभ राक्षस हैं। राक्षस या रक्षस् शब्द का अर्थ है—जिससे अपनी रक्षा की जाए। मोह आदि आत्मा के शत्रु हैं। इनको मार देना चाहिये। जिसे आध्यात्मिक वा लौकिक किसी भी प्रकार के ऐश्वर्य को=उत्कर्ष की कामना हो, वह इन राक्षसों को मसल दे।

मोह आदि में से एक-एक ही बहुत प्रबल एवं प्रचण्ड होता है। यदि किसी मनुष्य पर ये छहों एक-साथ आक्रमण कर दें, तो उसकी क्या अवस्था होगी? अतः मनुष्य को सदा सावधान एवं जागरूक रहना चाहिए, इन वृत्तियों को जड़मूल से उखाड़ने का प्रयत्न करते रहना चाहिए।

ईर्ष्या का नाश

ईर्ष्याया ध्राजिं प्रथमां प्रथमस्या उतापराम्।
अग्निं हृदय्यं शोकं तं ते निर्वापयामसि ॥१॥
यथा भूमिर्मृतमना मृतान्मृतमनस्तरा।
यथोत मम्रुषो मन एवेर्ष्योर्मृतं मनः ॥२॥
अदो यत्ते हृदि श्रितं मनस्कं पतयिष्णुकम्।
ततस्त ईर्ष्यां मुञ्चामि निरूष्माणं दृतेरिव ॥३॥

अ० ६। १८॥

(ईर्ष्यायाः प्रथमाम्) ईर्ष्या के पहले (ध्राजिम् उत) वेग को और (प्रथमस्याः) पहले (पराम्) पीछे होने वाले दूसरे अर्थात् ईर्ष्या के फलस्वरूप (हृदय्यं ते शोकम्) हृदय में होने वाले तेरे शोकरूप (तम+अग्निम्) उस अग्नि को (निर्वापयामसि) हम बुझाते हैं।

(यथा भूमिः) जैसे भूमि (मृतमनाः) मरे मन वाली, मुर्दे के मन के समान हैं (मृतात्) [और] मुर्दे से भी (मृतमनस्तरा) अधिक मुर्दादिल है (यथा मम्रुषः) [और] जैसे मुमूर्ष, मरणोन्मुख का (मनः) मन [होता है] (एवा ईर्ष्योः+मनः) इसी भाँति ईर्ष्यालु का मन (मृतम्) मुर्दा होता है। (अदः+यत् ते+हृदि) यह जो तेरे हृदय में (कम्) सुखाभास [किन्तु] (पतयिष्णु) पतनशील, गिरने वाला (मनस्कम्) तुच्छ मन [है]। (ततः+ते) वहाँ से तेरी (ईर्ष्याम्—मुंचामि) ईर्ष्या को छुड़ाता हूँ (इव दृतेः) जैसे धौंकनी से (ऊष्माणम् निः) गर्मी को निकालता है।

दूसरे की उन्नति और समृद्धि को देखकर जो जलन पैदा होती है, वह ईर्ष्या का मूल और फल शोक-रूप अग्नि है, जो हृदय को सदा जलाया करता है। ईर्ष्यालु के मन को भूमि से उपमा देकर फिर उसे भूमि से भी निकृष्टतर बतलाया गया है। उसके बाद मरने वाले के मन से समता दिखाई है। ईर्ष्या के भाव आपाततः सुखकारी प्रतीत होते हैं, परन्तु वास्तव में ईर्ष्या के कारण पतन ही होता है, अतः ईर्ष्या के भाव चित्त से निकाल देने चाहिएँ।

ईर्ष्या की औषधी

जनाद् विश्वजनीनात्सिन्धुतस्पर्य्या भृतम् ।
दुरात्त्वा मन्य उद्भृतमीर्ष्याया नाम भेषजम् ॥१॥
अग्नेरिवास्य दहतो दावस्य दहतः पृथक् ।
एतामेतस्येर्ष्यामुद्नाग्निमिव शमय ॥ २ ॥

अ० ७।४५।२॥

(मन्यो) हे मननशक्ते! विचार-सामर्थ्य (सिन्धुतः) सिन्धु के समान गम्भीर अथवा करुणारसपूर्ण (विश्वजनीनात्) सब लोगों के हितकारी (जनात्) मनुष्य से [तुझे] (परि+आभृतम्) पूर्णरूप

से ग्रहण किया है (दूरात्) बहुत कठिनता से (ईर्ष्यायाः नाम) ईर्ष्या की प्रसिद्ध (भेषजम् त्वा) औषध तुझको (उद्+भृतम्) उत्तमता से पाला और धारा है (अग्नेः—इव) अग्नि के समान (दहतः) जलाने वाले (अस्य) इस ईर्ष्यालु मनुष्य की (पृथक्) [और] पृथक्-पृथक् प्रत्येक पदार्थ को (दहतः दावस्य) जलाने वाले दावानल=जंगल की आग के समान (एतस्य एताम्—ईर्ष्याम्) इस मनुष्य की इस ईर्ष्या को (शमय) शान्त कर (इव उद्ना) जैसे जल से (अग्निम्) अग्नि को [शान्त करते हैं]।

ईर्ष्या की एक ही औषधी है—मन्यु=विचार। यह विचार सर्वहितकारी महोपकारी महात्माओं की सत्संगति से मिलता है। ईर्ष्या आग है। साधारण आग नहीं, यह सब-कुछ भस्म करने वाला दावानल। विचार ईर्ष्या के लिए वही काम करता है जो जल अग्नि के लिए।

इन्द्रिय-निग्रह

सप्त स्वसृररुषीर्वावशानो विद्वान् मध्व उज्जभारा दृशे कम्।
अन्तर्येमे अन्तरिक्षे पुराजा इच्छन्वव्रिमविदत्पूषणस्य ॥
ऋ० १०।५।५॥

(कम्) सुख को, आनन्द को (दृशे) देखने के लिए, प्राप्त करने के लिए (वावशानः) निरन्तर [इन्द्रियों को] वश में करने वाला (विद्वान्) ज्ञानी (सप्त) सात (अरुषीः) गतिशील, तेजस्वी (स्वसृः) बहिनों को=अपने सामर्थ्यों को=इन्द्रियों को (मध्वः) मधु से, रस से (उत्—जभार) उन्नत करता है। (पुराजाः) [और] पहले प्रकट होने वाला-जीव (अन्तरिक्षे—अन्तः येमे) अन्तःकरण में संयम करता है। (इच्छन्) चाहता हुआ वह (पूषणस्य वव्रिम्) पोषक के आश्रय को, (अविदत्) प्राप्त करता है।

इन्द्रियों में विलक्षरण और अद्‌भुत शक्ति है, किन्तु भोग-विलास का कुप्रभाव इन्द्रियों को दुर्बल और क्षीरण कर देता है। ज्ञानी इन्द्रियों को शक्ति और इनका उपयोग जानकर, इनसे अधिकाधिक लाभ उठाने के लिए संयम करता है, इन उच्छृङ्खल इन्द्रियों को वश में करके इनसे यथायोग्य उपयोग लेने लगता है। ऐसा करने से उसे रस मिलता है। कई लोग समझते हैं इन्द्रियों को फोड़ देने आदि से इन्द्रियाँ वश में हो जाती हैं। वेद लोगों को इस भ्रम से सावधान करता है और कहता है—"अन्तर्य·······पुराजाः= आत्मा अन्तःकरण में संयम करता है।" अर्थात् वह इन्द्रियों को वश में करने के लिए उनके अधिष्ठाता को काबू में करता है। मन को वश करने और अपनी चौकसी रखने से इन्द्रियों की चंचलता शान्त हो जाती है।

"अर्न्यमे—पुराजाः" का एक भाव और भी है। वह यह कि आत्मा सबके अन्दर बस रहे भगवान् पर अपना संयम—धारण ध्यानसमाधि—लगाता है। उस आनन्दघन भगवान् का साक्षात्कार होते ही विषयवासना शान्त हो जाती है, अतः सब इन्द्रियाँ शान्त हो जाती हैं।

जो भी संयम की इच्छा करे, और तदनुसार अनुष्ठान करे, उसे अवश्य सिद्धि प्राप्त होती है। इन्द्रियों को आत्मा की 'स्वसा' कहा है। स्वसा का मुख्य अर्थ अपना सामर्थ्य है। वेद कहना चाहता है, वास्तविक इन्द्रियत्व तो आत्मा की निज शक्ति है। यह बाहर से दिखने वाले तो गोलक हैं। आँख, नाक, कान, रसना, स्पर्श, मन और बुद्धि यह सात आत्मा की स्वसा-बहिनें-स्वसामर्थ्य हैं।

संसाररूपी नदी को तरने का उपाय

अश्मन्वती रीयते संरभध्वमुत्तिष्ठत प्रतरता सखायः।
अत्राजहीमोऽशिवा ये असञ्छिवान्वयमुत्तरेमाभि वाजान्॥
यजु० ३५।१०॥

(अश्मन्वती) [दुःखरूप] पत्थरों वाली [संसार-नदी] (रीयते) वह रही है। (सखायः) [हे मनुष्यो !] समान विचार वाले बनकर (सं—रभध्वम्) एक-साथ उद्योग करो, (उत्—तिष्ठत) उठो, सँभलो (प्र—तरत) [और] अच्छी तरह पार करो। (ये—अशिवाः) जो अमंगल, दुःखदायी (असन्) हैं। [उनको] (अत्र जहीमः) यहाँ ही हम छोड़ दें। [और] (शिवान् वाजान्) कल्याण-कारी ज्ञानों को, चालों को, पदार्थों को (अभिवयम्) लक्ष्य करके हम (उत—तरेम) उत्तमता से तर जाएँ।

विवेकी को संसार और उसके विषयों में दुःख भान होता है। वह उसे पार करना चाहता है। किन्तु उसे अकेले पार नहीं किया जा सकता। मिलकर इस संसार को पार कर सकते हैं, और वह भी उस अवस्था में कि, जब कुवासना आदि अशिवों को त्यागें और सामने उच्च लक्ष्य रखें।

शुभ कर्म करने की कामना

भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः।
स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवांसस्तनूभिर्व्यशेमहि देवहितं यदायुः॥

यजु० २५। २१॥

(देवाः) हम दिव्यगुण वाले होते हुए (कर्णेभिः भद्रम्+शृणुयाम) कानों से भला सुनें। (यजत्राः) हम यजनशील होते हुए (अक्षभिः भद्रं+पश्येम) आँखों से भला देखें। (स्थिरैः अङ्गैः) दृढ़ अङ्गों से (तनुभिः) [और] शरीरों से [युक्त हुए हम] (तुष्टुवाँसः) निरन्तर भगवान् की स्तुति करते हुए (यत् देवहितम्) जो भगवान् की दी हुई (आयुः व्यशेमहि) आयु है, उसको प्राप्त करें।

इन्द्रियनिग्रह का भाव है इन्द्रियों से शुभ कार्य्य करना और शरीर के सब अंगों को दृढ़ और बलिष्ठ बनाकर प्रभु की निरन्तर स्तुति करना।

इन्द्रियाँ शान्त हों

इमानि यानि पंचेन्द्रियाणि मनः
षष्ठानि मे हृदि ब्रह्मणा संशितानि ।
यैरेव ससृजे घोरं तैरेव शान्तिरस्तु नः ।। अ० १९ । ९ । ५ ।।

(इमानि यानि) ये जो (मनः षष्ठानि) मन जिनमें छठा है ऐसी (पञ्च इन्द्रियाणि) पाँच इन्द्रियाँ (मे)+हृदि=मेरे हृदय में (ब्रह्मणा संशितानि) ब्रह्म ने तीव्र करके [रखी हैं] (यैः+एव) जिनके द्वारा ही (घोरम्) भयङ्कर कर्म्मों की (ससृजे) सृष्टि होती है, (तैः+एव) उन [इन्द्रियों] के द्वारा ही (नः शान्तिः अस्तु) हमारी शान्ति हो ।

इन्द्रियों से चाहे भले कर्म्म करें या भयङ्कर, यह कर्त्ता की इच्छा पर निर्भर है । इन्द्रियों के भयङ्कर या शान्तिकर कर्म्म भी मन ही के सहयोग से होते हैं । अतः इनको सदा शान्त करने का प्रयत्न करते रहने चाहिए ।

वाणी से शान्ति

इयं या परमेष्ठिनी वाग् देवी ब्रह्मसंशिता ।
ययैव ससृजे घोरं तयैव शान्तिरस्तु नः ।। अ० १९ । ९ । ३ ।।

(इयम् या) यह जो (ब्रह्मसंशिता) ज्ञान से तीक्ष्ण की हुई (परमेष्ठिनी) अत्यन्त शक्तिशालिनी (वाग्+देवी) वाणी देवी है, (यया+एव घोरम्) जिसके द्वारा ही घोर उत्पात (ससृजे) उत्पन्न होता है (तथा+एव नः) उसके द्वारा ही हमारी (शान्तिः+अस्तु) शान्ति हो ।

वाणी की घोरता संसार में बहुत उत्पात किया करती है । प्रभु ने इसे देवी बनाकर मनुष्य को दिया है । मनुष्य इसे अपने अज्ञान से घोर राक्षसी बना देता है । वाणी को वश में और संयम में रखना

चाहिए, ताकि यह उत्पात करने वाली न होकर शान्तिदायिनी हो।

मधुर व्यवहार

मधुमन्मे निक्रमणं मधुमन्मे परायणम्।

वाचा वदामि मधुमद् भूयासं मधुसन्दृशः॥ अ० १।३४।३॥

(मे+निक्रमणं) मेरा निकलना, जाना (मधुमत्) मीठा हो, (मे—परायणम् मधुमत्) मेरा लौट आना मीठा हो। (वाचा—मधुमत् वदामि) वाणी से मीठा बोलता हूँ (मधुसन्दृशः) [ताकि] मधु-जैसा-मधुदर्शी (भूयासम्) हो जाऊँ।

उन्नति के अभिलाषी मनुष्य को, अपना व्यवहार विशेष मधुर बनाना चाहिए। आना-जाना, उठना-बैठना, बोल-चाल, चाल-चलन ऐसा बनाना चाहिए जो सबको मीठा और प्यारा लगे।

सत्य का ग्रहण, असत्य का त्याग

सुविज्ञानं चिकितुषे जनाय सच्चासच्च वचसी पस्पृधाते।

तयोर्यत्सत्यं यतरदृजीयः तदित्सोमोऽवति हन्त्यासत्॥

अ० ८।४।१२॥

(सुविज्ञानम्) उत्तम विज्ञान को (चिकितुषे) जानने की इच्छा वाले (जनाय) मनुष्य के प्रति (सत्—च—असत्—च वचसी) सत्य और असत्य वचन (पस्पृधाते) एक-दूसरे को दबाते हुए आते हैं। (तयोः यत्+सत्यम्) उन दोनों में से जो सत्य [और] (यतरत्+ऋजीयः) जौन-सा अधिक सरल [होता है] (सोमः तत्—इत्) ज्ञानी उसको ही (अवति) पसन्द करता है, रखता है। (असत् आ—हन्ति) मिथ्या को पूरी तरह मार देता है।

मनुष्य को अनेक बार किसी वस्तु के दोनों रूपों से वास्ता पड़ता है। विवेकी मनुष्य विवेक द्वारा सत्य को ग्रहण कर लेता है, और मिथ्या को त्याग देता है।

साँच को आँच नहीं

सुगः पन्था अनृक्षरः आदित्यास ऋतं यते ।
नात्रावखादो अस्ति वः ॥ ऋ० १।४१।४॥

(आदित्यासः) हे अखण्ड ब्रह्मचारियो ! (ऋतं+यते) सत्य पर चलने वाले के लिये (पन्थाः सुगः) मार्ग सुगम [और] (अनृक्षरः) कण्टकरहित होता है (अत्र) इस [सत्यमार्ग] में (वः) तुम्हारा (अवखादः) विनाश (न+अस्ति) नहीं है ।

सत्य सरल होता है । सरलता में कठिनता या विनाश की संभावना कैसे ? अतः मनुष्य को सदा सत्य मानना, सत्य बोलना और सत्य करना चाहिए ।

योगसाधन

मूर्धानमस्य संसीव्याथर्वा हृदयं च यत् ।
मस्तिष्कादूर्ध्वः प्रैरयत्पवमानोऽधि शीर्षतः ॥ अ० १०।२।२६॥
तद्वा अथर्वणः शिरो देवकोशः समुब्जितः ।
तत्प्राणो अभिरक्षति शिरो अन्नमथो मनः ॥ अ० १०।२।२७॥

(मस्तिष्कात् ऊर्ध्वः) मस्तिष्क से ऊपर रहने वाला (पवमानः अथर्वा) पवित्र [अतएव] अचल योगी (अस्य मूर्धानम्) इसके [=अपने] मूर्धा को [=मन को=दिमाग को] (च हृदयम्) और हृदय को (संसीव्य यत्) एकरस सीकर चूंकि [प्राण को] (शीर्षतः अधि) सिर से ऊपर को (प्रैरयत्) प्रेरित करता है (अथर्वणः) निश्चल योगी का (तत्) वह (शिरः) सिर, शीर्षस्थानीय अभ्यास (समुब्जितः) इकट्ठा किया हुआ (देवकोशः) देवकोश [=दिव्य खज़ाना है] (तत् शिरः) उस सिर की [शीर्षस्थानीय अभ्यास की] (प्राणः अभि,+रक्षति) प्राण सब तरह रक्षा करता है (अथो अन्नम्) और अन्न, भोजन (मनः) [और] मन [रक्षा करता है] ।

जीव जहाँ शरीर से भिन्न है, वहाँ वह मन भी नहीं, मन से भी भिन्न है। इस बात को प्रकट करने के लिए 'मस्तिष्कादूर्ध्वः' कहा गया है। 'मस्तिष्कादूर्ध्वः' कहने से यह भाव भी निकलता है कि वह मस्तिष्क का भी स्वामी है। योग है मानसिक और हार्दिक भावनाओं के समीकरण का नाम। कई मनुष्य केवल शुष्क तार्किक होते हैं, वे भी योगी नहीं। जो केवल भावावेश में बह जाया करते हैं, वेद के अनुसार वे भी योगी नहीं। सामान्य मनुष्यों के दिल और दिमाग प्रायः-एक दूसरे के असहयोगी होते हैं। योगी के लिए इनको एक दूसरे के अनुकूल बनाना अत्यन्त आवश्यक है, अतः कहा—'मूर्धानम्—यत्'। हृदय और मस्तिष्क को सीने के लिए अथर्वा=निष्कम्प होना आवश्यक है। अर्थात् न तो अनुष्ठानकाल में शरीर में कँपकँपी आदि हो और न ही मन और इन्द्रियाँ विषयों की ओर दौड़ें। और इसके साथ ही साधक विचार, आचार, आहार, व्यवहार भी पवित्र रखता हुआ निरन्तर पवित्र रहने का यत्न करे। प्राणों को, प्राणवृत्तियों को सिर के ऊपर ब्रह्मरन्ध्र में लगाए।

इस प्रकार साधना द्वारा साधक मानो देवकोश का संचय करता है।

'देवकोश' का एक अर्थ आत्मा का कोश है। इस आत्मिक कोष की रक्षा प्राण=प्राणसंयम विचार और शुद्ध आहार द्वारा हो सकती है।

तप से सुखप्राप्ति

पवित्रं ते विततं ब्रह्मणस्पते प्रभुर्गात्राणि पर्य्येषि विश्वतः।
अतप्ततनूर्न तदामो अश्नुते शृतास इद्वहन्तस्तत्समाशत ॥
ऋ० ९।८३।१॥

(ब्रह्मणस्पते) ज्ञान के स्वामिन् परमेश्वर! (ते पवित्रम्) तेरा पवित्र रक्षणादि (विततम्) सर्वत्र फैला हुआ है। (प्रभः गात्राणि)

तू प्रभु शरीरों को, अवयवों को (विश्वत) सब प्रकार से (परि+एषि) व्याप्त करता है। सब ओर से=अन्दर-बाहर से प्राप्त है (तत्+आमः) [तेरे] उस ज्ञानमय आनन्द को (अतप्ततनूः) शारीरिकतपशून्य (न अश्नुते) नहीं प्राप्त करता है (शृतासः) [परन्तु] परिपक्व महात्मा (तत् वहन्तः) उस आनन्द को धारण करते हुए (इत्) अवश्य (सम्+आशत) भली प्रकार प्राप्त करते हैं

भगवान् का सब-कुछ पवित्र है, और वह सर्वत्र फैला हुआ है। प्रभु अणु-अणु में विराजमान है। फिर क्यों जीव दुःखी है, मलिन है? क्यों नहीं उस आनन्दघन के आनन्द को पाता? तप की न्यूनता उसे रसास्वाद से वञ्चित कर रही है। संसार में जो परिश्रम करता है, उसे ही भोजन आदि रसवान् प्रतीत होते हैं। रस लेने के लिए परिश्रम=तप नितान्त अनिवार्य्य है। अतः परमानन्द रस के अभिलाषियों को तप=शारीरिक तप का अवश्य अनुष्ठान करना चाहिए। ज्ञानपूर्वक जब शारीरिक तप किया जाता है, तो वह अविद्यादि क्लेशों का नाश करता है।

प्रभु के अभिलाषी भोग में नहीं फँसते

इमे हि ते ब्रह्मकृतः सुते सचा मधौ न मक्ष आसते।
इन्द्रे कामं जरितारो वसूयवो रथे न पादमादधुः॥

सा० उ० ८।२।६।२॥

(इमे+ते+हि) ये वे ही (ब्रह्मकृतः) स्तुति करने वाले हैं, जो (सचा सुते) मिलकर परमेश्वर के रचे (मधौ) मधुर आनन्द पर (मक्षः+न आसते) मधुमक्खियों की भाँति बैठते हैं (वसूयवः) मोक्ष-धनाभिलाषी जन (जरितारः) स्तोता होते हुए (इन्द्रे कामं) परमेश्वर में भली प्रकार (पादम्+आ+दधुः) पग, धरते हैं (रथे न) [किन्तु] रथ=रमण-साधन में नहीं [धरते हैं]

परमात्मा के भक्त परमानन्द पर ऐसे स्थान बनाते हैं, जैसे मधु-

मक्षिका मधु पर। वे अपना सारा योग परमात्मा पर लगाते हैं, विषयों की ओर से चित्त को हटा लेते हैं। जिसने ब्रह्मामृतरस का पान कर लिया हो, उसे तो विषय नीरस ही नहीं विषवत् भासते हैं। वह विषयों में फँस ही नहीं सकता।

ब्रह्मज्ञान से मुक्ति

वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात्।
तमेव विदित्वाति मृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय॥

यजु० ३१। १८॥

(अहम् एतम् महान्तम्) मैं इस महान् (आदित्यवर्णम्) आदित्य-प्रकाशक (तमसः परस्तात्) अन्धकार से परे (पुरुषम्) पूर्ण परमात्मा को (वेद) जानता हूँ। (तम्—एव) उसको ही (विदित्वा) जानकर (मृत्युम्) मृत्यु को (अति+एति) लाँघ जाता है (अयनाय) मुक्ति प्राप्ति के लिए (अन्यः पन्था) दूसरा मार्ग (न विद्यते) नहीं है।

भगवान् सब प्रकाशकों का प्रकाशक है, अन्धकार का लवलेश भी उसमें नहीं, उस पूर्ण परमात्मा को जाने बिना जीव का कल्याण नहीं।

अकामो धीरो अमृतः स्वयंभू रसेन तृप्तो न कुतश्चनोनः।
तमेव विद्वान् न बिभाय मृत्योरात्मानं धीरमजरं युवानम्॥

अ० १०। ८। ४४॥

(अकामः) [प्रभु] कामनाओं से रहित (धीरः) अविकारी, महाज्ञानी, बुद्धिदाता (अमृतः) अविनाशी (स्वयंभूः) अपनी सत्ता के लिए दूसरों से निरपेक्ष (रसेन) रस से, आनन्द से (तृप्तः) भरपूर (कुतः+चन) कहीं से (ऊनः न) न्यून, कम नहीं है। (तम्+एव धीरम्) उस ही धीर, अविचल (अजरम्) अजर, बूढ़े न होने वाले (युवानम्) सब में मिला हुआ होते भी सबसे पृथक्, अथवा सदा जवान (आत्मानम्)

सदा ज्ञानक्रिया शक्तिसम्पन्न भगवान् को (विद्वान्) जाननें वाला (मृत्योः न बिभाय) मौत से नहीं डरता है।

भगवन् आप्तकाम=निष्काम है, अतएव उसमें चंचलता नहीं। वह धीर है। वह अजन्मा अतएव अविनाशी है। आनन्द से भरपूर है। किसी प्रकार की उसमें त्रुटि या न्यूनता नहीं है, सबमें समा रहा है, किन्तु सबसे भिन्न है। सदा एकरस रहता है, मृत्यु और वृद्धावस्था उसे नहीं छूतीं। ऐसे भगवान् को जान लेने से मृत्यु का भय हट जाता है।

स्वावलंबन

स्वर्यन्तो नापेक्षन्त आ द्यां रोहन्ति रोदसी।
यज्ञं ये विश्वतोधारं सुविद्वांसो वितेनिरे॥ अ० १।१४।४॥

(ये+सुविद्वांसः) जो=उत्तम ज्ञानी (विश्वतः+धारं) सब ओर धाराओं वाले, अथवा सब प्रकार की धारण शक्ति वाले (यज्ञम्) यज्ञ को, सत्यकर्म्म को (वितेनिरे) विशेष रूप से करते हैं (स्वः+यन्तः) आनन्द को प्राप्त करते हुए [वे] (न) नहीं (अपेक्षन्ते) अपेक्षा करते हैं (द्याम्) [वरन्] द्यौ (रोदसी) [और] पृथिवी और अन्तरिक्ष पर (आ+रोहन्ति) सब प्रकार से आरूढ़ होते हैं।

जो महाज्ञानी वैदिक यज्ञ=परोपकारमय सत्कर्म्म का रहस्य समझ सदा इनके अनुष्ठान में लगे रहते है, उन्हें मुक्तिप्राप्ति के लिए किसी दूसरे साधन या आलम्बन की आवश्यकता ही नहीं होती। क्योंकि उनका यज्ञ एकधार—'अन्धी बाँटे रेवड़ियाँ, फिर फिर अपनों को दे'—के समान स्वार्थयुक्त नहीं होता, उनका यज्ञ तो विश्वतोधार सर्वोपकार को आधार मानकर प्रवृत्त होता है। मित्र-शत्रु, स्व-पर का गर्हित भेदभाव वहाँ नहीं होता। ऐसे लोग त्रिलोकी में सर्वोपरि विराजमान होते हैं।

अपनी बड़ाई अपने हाथ

स्वयं वाजिंस्तन्वं कल्पयस्व स्वयं यजस्व स्वयं जुषस्व ।
महिमा तेऽन्येन न संनशे ।। य० २३ । १५ ।।

(वाजिन्) हे ज्ञानिन् ! (स्वयम् तन्वम्) अपने-आप शरीर को (कल्पयस्व) समर्थ कर, शक्तियुक्त कर । (स्वयम् यजस्व) अपने आप यज्ञ कर (स्वयम् जुषस्व) [और] अपने-आप सेवन कर, प्रेम कर । (ते महिमा) तेरा महत्त्व (अन्येन) दूसरे के द्वारा (न सं+नशे) नहीं प्राप्त किया जा सकता ।

स्वावलम्बन का कितना स्पष्ट और ज़ोरदार उपदेश है ! शरीर को बलयुक्त बनाने के उपदेश के साथ कहा, यदि यज्ञ का फल चाहते हो, तो स्वयं करो । बड़ा बनना चाहते हो, तो स्वयं बड़ा बनने का यत्न करो, उसके लिए दूसरों पर भरोसा मत रखो । कोई बड़े-से बड़ा मनुष्य या दूसरे के हाथ का साधन तुम्हें बड़ा नहीं बना सकता । बड़ा बनने के लिए स्वयं प्रयत्न और पुरुषार्थ करना चाहिए । अपनी कमाई ही सुखदायी होती है ।

उन्नति प्रत्येक जीव का अधिकार है

अनुहूतः पुनरेहि विद्वानुदयनं पथः ।
आरोहणमाक्रमणं जीवतो जीवतोऽयनम् ।। अ० ५ । ३० । ७ ।।

(अनुहूतः) अनुकूलता से बुलाया हुआ तू (विद्वान्) विद्वान्—कर्त्तव्यज्ञानी (पथः पुनः) मार्ग से फिर (उदयनम्) उन्नति, उत्तम गति को (उदेहि) उत्तमता से प्राप्त हो । [क्योंकि] (आरोहणम्+आक्रमणम्) ऊपर चढ़ना [और] आगे बढ़ना (जीवतः जीवतः) प्रत्येक जीवधारी का (अयनम्) लक्ष्य है, गति है ।

पूर्वार्ध से ऐसा प्रतीत होता है कि प्राणी को इस संसार के रंग-मञ्च पर बार-बार आने का अवसर मिलता है, और तब तक उसे

आना पड़ता है, जब तक कि वह कृतकृत्य न हो जाए। उत्तरार्ध में एक ऐसा उपदेश है, जो दुर्बल चित्त वालों को बड़ा सहारा देता है। किसी जीव को निराश होने की आवश्यकता नहीं। सभी की उन्नति और वृद्धि होगी और अवश्य होगी। हां यत्न के बिना नहीं होगी, अतः यत्न और पुरुषार्थ करो, निराश मत होओ।

उन्नति कर, आगे बढ़ !

उत्क्रामातः पुरुष माऽव पत्था मृत्योः पड्वीशमवमुञ्चमानः।
माच्छित्था अस्माल्लोकादग्नेः सूर्य्यस्य सन्दृशः ॥ अ० ८।१।४ ॥

(पुरुष) हे पुरुष ! मनुष्य ! (अतः उत्क्राम) इस [अवस्था] से ऊपर को उठ, आगे को बढ़। (मा अव+पत्थाः) मत नीचे को गिर। (मृत्योः पड्वीशम्) मृत्यु के पाश को (अवमुञ्चमानः) छुड़ाता हुआ (अस्मात्+लोकात्) इस लोक से (अग्नेः सूर्य्यस्य) अग्नि के [तथा] सूर्य्य के (सन्दृशः) सन्दर्शन से (मा छित्थाः) मत छूट, कट।

मनुष्य को सन्तोष करके पड़ा न रहना चाहिए, वरन् वर्त्तमान दशा से ऊपर उठने, आगे बढ़ने और उत्पन्न होने का यत्न करना चाहिए। गिरावट और पतन को कोई कुचेष्टा नहीं करनी चाहिए। मनुष्य को ऐसा पुरुषार्थ करना चाहिए जिससे उसका जीवन लम्बा हो, और चिरकाल तक इस संसार के पदार्थों का दर्शन कर भगवान् की महत्ता का अनुभव कर सके।

तेरा काम आगे बढ़ना है, नीचे गिरना नहीं

उद्यानं ते पुरुष नावयानं जीवातुं ते दक्षतातिं कृणोमि।
आ हि रोहेममृतं सुखं रथमथ जिर्विर्विदथमा वदासि ॥
अ० ८।१।६ ॥

(पुरुष) हे पुरुष ! (ते उत्-यानम्) तेरा ऊपर को जाना हो= उन्नति हो (न अव-यानम्) न कि नीचे को जाना=अवनति। (ते

(जीवातुम्) तेरे जीने के लिए (दक्षतातिम् कृणोमि) दक्षता, बल करता हूँ, बनाता हूँ (इमम् अमृतम्) इस अमृतमय, या जीवनरूप (सुखम् रथम्) सुखकारी रथपर, या शरीररूप रथ पर (आ+रोह हि) चढ़, सवार हो ही। (अथ जिर्विः) इसके बाद स्तुति के योग्य होकर (विदथम् वदासि) ज्ञान, उपदेश बोल, उपदेश कर।

मनुष्य का सतत यत्न होना चाहिए कि अवनति से बचकर सदा उन्नत होने का यत्न करे। आलस्य को त्यागकर सदा पुरुषार्थी जीवन बनाये। रथ पर सवार होकर योग्य बनकर ज्ञानोपदेश करे अथवा इस शरीर-रूपी रथ को सुखमय तथा आनन्द का साधन बनाने का यत्न करे।

बराबर वालों से आगे बढ़

दूष्या दूषिरसि हेत्या हेतिरसि मेन्या मेनिरसि ।
आप्नुहि श्रेयांसमति समं क्राम ॥ अ० २ । ११ । १ ॥

(दूष्याः दूषिः) दूषित क्रिया का दूषित करने वाला (असि) तू है (हेत्याः) हथियार का, घात का (हतिः—असि) हथियार है, घात है। (मेन्याः मेनिः असि) वज्र का वज्र तू है। (श्रेयांसम्) कल्याण को (आप्नुहि) तू प्राप्त कर (समम् असि—क्रम) [और] समान को लाँघ जा।

दुष्ट कर्म्म करने वाला, और उस दुष्टता को उलटने वाला मनुष्य ही है। मनुष्य भूल से अपने को दुर्बल और निर्बल मानता है। शस्त्रास्त्र सब जड़ हैं। चेतन जब तक उनका प्रयोग न करे, वे कुछ नहीं कर सकते, अतः मनुष्य का आत्मा ही हथियारों का हथियार है। मनुष्य को चाहिए, कल्याण प्राप्त करे, श्रेष्ठता प्राप्त करे। अपने जैसों से आगे बढ़ेगा तो कल्याण प्राप्त कर सकेगा।

स्रक्त्योसि प्रतिसरोसि प्रत्यभि चरणोसि ।
आप्नुहि श्रेयांसमति समं क्राम ॥ अ० २ । ११ । २ ॥

(स्रक्त्यः असि) [तू] प्रगतिशील है। (प्रतिसरः—असि) तू विरोध में चलनें वाला है। (प्रत्यभिचरणः—असि) प्रत्याक्रमण करने वाला है। (श्रेयांसम् आप्नुहि) [अतः] श्रेष्ठता को प्राप्त कर, (समम् अति—क्राम) समान को लांघ जा।

आत्मा का स्वभाव प्रगति का है। मनुष्य-शरीर में आत्मा को प्रगति के साधन आसानी से प्राप्त होते हैं, अतः मनुष्य को प्रगति-प्राप्ति का प्रयत्न करना चाहिए। मनुष्य को यदि विघ्न-बाधा आये, तो आत्मा में उसके विरोध करने और हटाने का सामर्थ्य होता है, अतः विघ्नबाधाओं से मनुष्यों को घबराना नहीं चाहिए, वरन् उनका सामना करना चाहिए। बुद्धिमान् मनुष्य आक्रमण करने वाले का भाव जानकर उसके ऊपर पहले से प्रत्याक्रमण कर देते हैं। इसलिए श्रेष्ठता-प्राप्ति के अभिलाषी को विरोध की उत्पत्ति से पूर्व विरोध का बीज नष्ट कर देना चाहिए। साथियों से वही आगे बढ़ सकता है, जिसमें प्रतिगति, विरोध का मुकावला और शत्रु पर प्रत्याक्रमण के भाव हों।

प्रति तमभि चर योऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः ।
आप्नुहि श्रेयांसमति समं क्राम ॥ अ० २ । ११ । ३ ॥

(यः अस्मान् द्वेष्टि) जो हम सबसे द्वेष करता है, वैर करता है, (यम् वयम् द्विष्मः) जिससे हम सब द्वेष करते हैं; वैर करते हैं (तम—प्रति अभि—चर) उसके विरुद्ध चढ़ाई कर। (श्रेयांसम् आप्नुहि) श्रेष्ठता को प्राप्त कर (समम् अति—क्राम) समान को लाँघ जा।

कोई-कोई मनुष्य ऐसा होता है, जो सम्पूर्ण समाज का बैरी होता है, फलतः सारा समाज भी उससे अप्रीति करता है। वेद उपदेश करता है कि ऐसे समाजविद्वेषी और समाजविद्विष्ट के विरुद्ध कठोर कार्य्यवाही करनी चाहिए। जो मनुष्य समाजवैरी पर चढ़ाई करता है, आक्रमण करता है, वही श्रेष्ठता का भागी होता है, क्योंकि

वह अपने जैसों से आगे निकल गया है। तात्पर्य्य यह कि श्रेष्ठता-प्राप्ति के लिए जनता के वैरियों को दण्ड देने में उद्यत रहना चाहिए।

सूरिरसि वर्चोधा असि तनूपानोऽसि ।
आप्नुहि श्रेयांसमति समं क्राम ॥ अ० २ । ११ । ४ ॥

(सूरिः+असि) तू ज्ञानी है (वर्चोधाः+असि) तू तेजधारी है (तनूपानः+असि) तू शरीररक्षक है (श्रेयांसम् आप्नुहि) श्रेष्ठता को प्राप्त कर (समम् अति क्राम) समान को लाँघ जा।

कल्याण या श्रेष्ठता के प्राप्त करने के लिए मनुष्य को ज्ञान, तेजस्विता तथा शारीरिक बल अत्यन्त आवश्यक हैं। यदि मनुष्य में उन्नति के लिए अपेक्षित ज्ञान ही न हो, अर्थात् उसे यह ज्ञात न हो, कि मुझमें क्या त्रुटि है, किस अंश में मैं आगे बढ़ सकता हूँ, वह उन्नति क्या करेगा? एक में ज्ञान तो है किन्तु उसमें साहस नहीं, वह भी उन्नति-मार्ग में पग रखने से संकोच करेगा। ज्ञान भी हो, उत्साह भी हो, किन्तु यदि शरीर असमर्थ हो, तो भी कुछ नहीं हो सकता। इस भाव को सामने रखकर प्रभु जीव को ढाड्स बँधाते हैं कि तू ज्ञानी है, तुझमें अपेक्षित तेजस्विता भी है, और शरीर की रक्षा का सामर्थ्य भी तुझमें है, अतः आगे बढ़, और श्रेष्ठता प्राप्त कर।

शुक्रोसि भ्राजोसि स्वरसि ज्योतिरसि ।
आप्नुहि श्रेयांसमति समं क्राम ॥
अ० २ । ११ । ५ ॥

(शुक्रः+असि) तू वीर्य्यवान् है (भ्राजः+असि) [अतएव] तू तेजस्वी है, (स्वर्+असि) [और अतएव] आनन्दित है, (ज्योतिः+असि) तू प्रकाशस्वरूप है। (श्रेयांसम् आप्नुहि) श्रेष्ठता को प्राप्त कर। (समम् अति क्राम) समान को लाँघ जा।

वीर्य्यवत्ता का फल तेजस्विता है, तेजस्विता का परिणाम

आनन्द और मस्ती है, और इन कारणों से आत्म-प्रकाश बढ़ता है। जो वीर्य्यवान्, तेजस्वी, आनन्दी एवं प्रकाशयुक्त है, वह अवश्य दूसरों से आगे बढ़ जाएगा; और निस्सन्देह श्रेष्ठता और श्रेयः प्राप्त कर लेगा।

अथर्ववेद के इस सूक्त में मनुष्य को उत्साह देकर आगे बढ़ने का उपदेश दिया गया है। इस सूक्त में आत्मा की कुछ शक्तियों का संकेतरूप में वर्णन है। इन शक्तियों के अज्ञान के कारण मनुष्य अपने-आपको दीन-हीन और क्षीण मानकर हतोत्साह होकर दुरवस्था और दुर्दशा को प्राप्त होता है। मनुष्य को उन्नति करने के लिए अपने वास्तविक स्वरूप को जानना अत्यन्त आवश्यक एवं उपयोगी होता है, इसी भाव से प्रभु ने इस सूक्त के द्वारा उन्नति के लिए आवश्यक आत्मशक्तियों का परिचय मनुष्य को कराया है।

बहुधा मनुष्य किसी कार्य्य के बिगड़ने से हतोत्साह और हतप्रभ हो जाया करता है। भगवान् ने कहा है कि 'हे मनुष्य! तू ही बिगाड़ने वाला और बिगाड़ का बिगाड़ने वाला अर्थात् सँवारनेवाला भी तू ही है, अतः उठ, आगे बढ़।' और सूक्त समाप्त करते-करते उसको तेजस्विता तथा ज्योतिष्मत्ता का भी उपदेश कर दिया। इस सूक्त का मनन, चिन्तन मनुष्य के अन्दर अपूर्व उत्साह भर देता है।

पुरुषार्थ = कर्म्म करना

कृषन्नित्फाल आशितं कृणोति यन्नध्वानमप वृंक्ते चरित्रैः।
वदन् ब्रह्माऽवदतो वनीयान् पृणन्नापिरपृणन्तमभि ष्यात्॥
ऋ० १०।११७।७॥

(फालः) हल का फाल (कृषन् इत्) भूमि को फोड़ता हुआ ही (आशितम् कृणोति) भोजन कराता है, जुटाता है। (यन्) चलने वाला (चरित्रैः) पैरों से, या चलने के साधनों से (अध्वानम् अप+

वृंक्ते) मार्ग को दूर हटाता है, समाप्त करता है। (वदन् ब्रह्मा) बोलनें वाला ज्ञानी (अवदत: वनीयान्) न बोलने वाले से अधिक आदर के योग्य होता है। (पृणन् आपि:) दाता बन्धु (अपृणन्तम् अभि+स्यात्) न देनें वाले को दबा लेता है।

कार्य करने में ही जीवन की सफलता है। हल का फाल कितना ही अच्छा क्यों न हो, लुहार की दुकान में पड़ा-पड़ा या किसान के घर में पड़ा-पड़ा वह भोजन की उत्पत्ति नहीं कर सकता। भोजन का साधन तो वह तभी बन सकेगा, जब उससे भूमि जोती और बोई जाएगी। इसी प्रकार रास्ता चलने से कटता है, कोई बैठा-बैठा, मार्ग काटने के उपाय किये बिना, मार्ग को समाप्त नहीं कर सकता। मार्ग को समाप्त करने के लिए तो चलना ही होगा। कोई महाज्ञानी है, चारों वेद का पण्डित है, किन्तु न पढ़ाता है, न लिखाता है, न कहीं उपदेश करता है, उसके पण्डित होने और न होने में क्या अन्तर है। समाज को उसकी पण्डिताई और विद्वत्ता से क्या लाभ? समाज के लिए तो वही पण्डित काम का, जो बोले, उपदेश करे। अपनी विद्या और बुद्धि-बल के अनुसार लोगों को सुमार्ग, सुकर्म्म, सुधर्म्म का उपदेश करे। इसी भाँति जो धनी अपने धन से जन का उपकार नहीं करता, भूखे को भोजन नहीं देता, नंगे को वस्त्र नहीं देता, उसमें और धनहीन दरिद्र में क्या अन्तर है? धन होने का लाभ दूसरों की सहायता में है। अत: दानी धनवानों को कंजूस की अपेक्षा सदा अधिक मान और आदर मिला करता है।

आलसी और बकवादी न बनें

त्रातारो देवा अधिवोचता नो मा नो निद्रा ईशत मोत जल्पि: ।
वयं सोमस्य विश्वह प्रियास: सुवीरासो विदथमा वदेम ॥

ऋ० ८।४८।१४॥

(त्रातारः देवाः) हे रक्षक विद्वानो! (नः अधि+वोचत) हमें अधिकारयुक्त उपदेश दो। (निद्रा नः मा+ईशत) निद्रा=आलस्य हम पर मत शासन करे (उत+मा जल्पिः) और मत बकवास [हम पर शासन करे] (विश्वह) हे सकलदुर्गुणनाशक (वयम्) हम (सोमस्य प्रियासः) शान्तिदायक प्रभु के प्यारे [होवें] (सुवीरासः) उत्तम वीर अथवा श्रेष्ठ सन्तान वाले हम (विदथम् आ+वदेम) ज्ञान को सर्वत्र कहें।

मनुष्य को जब कोई कार्य्य न हो, या तो वह आलसी बन जाता है या व्यर्थ बकवास करने लग जाता है। और ये व्यसन सब दुर्गुणों का मूल हैं। इन दुर्गुणों को हटाने के लिए मनुष्य को भगवान् की प्रीतिप्राप्ति का यत्न करना चाहिए। भगवान् की प्रीति प्राप्त करके सर्वत्र ज्ञानप्रसार भी तभी संभव है, जब मनुष्य ज्ञानियों का सत्संग करे। ज्ञानी भी संसार में दो प्रकार के होते हैं—एक वे जो अपने ज्ञान से संसार का कल्याण करने का यत्न करते हैं, दूसरे वे जिनका ज्ञान संसार के संहार का कारण होता है। दूसरी कोटि वाले विद्वान्=साक्षर होकर भी राक्षस होते हैं। पहली श्रेणी के महात्मा ही त्राता देव=रक्षक विद्वान् कहलाते हैं। वे जो उपदेश देंगे, संसार के हित, कल्याण और रक्षा के लिए देंगे। दूसरे संसार का संहार करने के लिए। अतः त्राता देवों की सत्संगति करनी चाहिए।



सामाजिक बल

समाज का निर्भर व्यक्तियों पर है और व्यक्ति की उन्नति समाज के आश्रय से होती है। व्यक्ति की उन्नति ही क्यों, व्यक्ति का निर्माण भी समाज द्वारा होता है वैदिक धर्म्म में इसी कारण, समाज का बहुत महत्व है। ऋग्वेद का अन्तिम सूक्त इस समाजवाद का स्पष्ट प्रतिपादन करता है। किन्तु समाज का मूल व्यक्ति है। उन्नत व्यक्तियों से ही उन्नत समाज बन सकता है। अतः इससे पूर्व व्यक्ति के घटक शरीर और आत्मा की उन्नति के सम्बन्ध में लिखकर समाज की उन्नति के सम्बन्ध में वेदादेश यहाँ दिया जा रहा है। पाठकों को अनुभव होगा कि वेद किस प्रकार और कितनी ऊँची समता का उपदेश करता है।

समाज की कामना

आ ब्रह्मन् ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसी जायताम्
आ राष्ट्रे राजन्यः शूर इषव्योऽतिव्याधी महारथो जायतां
दोग्ध्री धेनुर्वोढानड्वानाशुः सप्तिः पुरन्धिर्योषा
जिष्णू रथेष्ठाः सभेयो युवास्य यजमानस्य वीरो जायतां
निकामे-निकामे नः पर्जन्यो वर्षतु
फलवत्यो नः ओषधयः पच्यन्ताम्
योगक्षेमो न कल्पताम् ॥ य० २२ । २२ ॥

(ब्रह्मन्) हे सर्वतो महन् भगवन्! (राष्ट्रे) राष्ट्र में (ब्रह्म-वर्चसी) ब्रह्मतेज से युक्त (ब्राह्मणः) ब्राह्मण, ब्रह्मवेत्ता (आ+जाय-ताम्) उत्पन्न हो। (शूरः) शूर (इषव्यः) इषु=शस्त्रास्त्र में कुशल (अतिव्याधी) अत्यन्त उद्विग्न करने वाला (महारथः) महारथी

(राजन्यः) राष्ट्रहितकारी क्षत्रिय (आ+जायताम्) पैदा हो। (दोग्ध्री) दूध देने वाली (धेनुः) गौ, (वोढा) भार उठाने वाला (अनड्वान्) बैल, रथ ले जाने वाला (आशुः) शीघ्रगामी (सप्तिः) घोड़ा (पुरन्धिः) अति बुद्धिमती, नगरधारिका। (योषा) स्त्री (अस्य) [और] इस (यजमानस्य) यजमान का (जिष्णुः) जयशील (रथेष्ठाः) रथारूढ़, (सभेयः) सभ्य, सभा संचालन में चतुर, (युवा) जवान (वीरः) वीर सन्तान (जायताम्) उत्पन्न हो। (नः) हमारी (निकामे-निकामे) इच्छा पर (पर्जन्यः) बादल (वर्षतु) बरसे, (नः) हमारी (ओषधयः) औषधियाँ (फलवत्यः) फलवाली होकर (पच्यन्ताम्) पकें (नः) हमारा (योगक्षेमः) योगक्षेम (कल्पताम्) समर्थ हो, सिद्ध हो।

राष्ट्र के लिए जो कुछ चाहिए, उस सबकी संक्षेप में यहाँ कामना की गई है। देश में ज्ञानी-ध्यानी महापुरुषों की प्रचुरता होनी चाहिए, ताकि 'अविद्या का नाश और विद्या की वृद्धि' सदा होती रहे। बाह्य और आन्तरिक शत्रुओं से रक्षा करने वाले वीर=प्रचण्ड क्षत्रियों की कमी भी न होनी चाहिए। उन्हें शस्त्रास्त्रसंचालन भली-भाँति आता हो। सामान्य प्रजा भी धनधान्य से समृद्ध एवं वीर होनी चाहिए। वे सुसभ्य और सुशिक्षित हों। स्त्रियाँ बुद्धिमती एवं नागरिकता के गुणों से अलंकृत हों, आवश्यकता पड़े तो नगर का प्रबन्ध भी कर सकें। गौ, बैल, घोड़ा, गाड़ी आदि सुख-संविधाओं की न्यूनता न हो। सभी आनन्द-प्रसन्न रहें। जब-जब आवश्यकता हो, वृष्टि हुआ करे। अति-वृष्टि और अनावृष्टि से राष्ट्र सुरक्षित हो। फल-फूल, कन्द-मूल, अन्न-धान्य की प्रचुरता हो। वृष्टि के अभाव या अधिकता के कारण वे समय से पहले नष्ट न हो जाएँ। इस प्रकार मनुष्यों का योगक्षेम अबाधित बना रहे।

अप्राप्ति की प्राप्ति को योग कहते हैं, और प्राप्त की सुरक्षा को क्षेम कहते हैं। अर्थात् राष्ट्र की आवश्यकताएँ सदा सुगमता से पूरी

होती रहें और इस प्रकार यत्न से प्राप्त पदार्थ सुरक्षित रहें नष्ट न हों।

प्रियं मा कृणु देवेषु प्रियं राजसु मा कृणु।
प्रियं सर्वस्य पश्यत उत शूद्र उतार्ये ॥ अ० १९। ६२। १॥

(मा) मुझको (देवेषु) देवों में, विद्वानों में (प्रियम्) प्यारा (कृणु) कर। (मा) मुझको (राजसु) राजाओं में (प्रियम्) प्यारा कर (सर्वस्य) सब (पश्यतः) देखने वाले का (प्रियम्) प्यारा [कर]। (उत) और (शूद्रे) शूद्र में (उत) और (अर्य्ये) वैश्य में [प्रिय कर]।

रुचं नो धेहि ब्राह्मणेषु रुचं राजसु नस्कृधि।
रुचं विश्येषु शूद्रेषु मयि धेहि रुचा रुचम् ॥ य० १८। ४८॥

(नः) हमारे (ब्राह्मणेषु) ब्राह्मणों में (रुचम्) कान्ति, तेज (धेहि) डाल। (नः) हमारे (राजसु) राजाओं में, क्षत्रियों में (रुचम्) कान्ति (कृधि) कर। (विश्येषु) वैश्यों में (शूद्रेषु) [तथा] शूद्रों में (रुचम्) कान्ति [कर]। (मयि) मुझमें (रुचा) तेज से युक्त (रुचम्) कान्ति, तेज (धेहि) डाल, रख, धारण कर।

पहले मन्त्र में चारों वर्णों की अर्थात् संपूर्ण समाज की प्रीति की कामना की गई है। दूसरे में सारे समाज के कान्तियुक्त होने की प्रार्थना की गई है और अन्त में उस सामाजिक कान्ति के कारण अपने तेजस्वी होने की प्रार्थना की है। किसी हीन समाज में कोई तेजस्वी महापुरुष उत्पन्न हो जाए, तो उसका यथेष्ट आदर नहीं होता। तेजस्वी होने पर भी समाज के तेजोविहीन होने के कारण वह कान्तिविहीन-सा दीखता है और तेजस्वी राष्ट्रों का साधारण व्यक्ति भी अत्यन्त तेजस्वी होता है। इस भाव को सामने रखकर 'मयि धेहि रुचा रुचम्' की प्रवृत्ति हुई है। पाठक इसका मनन करें, और इसे अपने जीवन में लाने का प्रयत्न करें।

उद्बुध्यध्वं समनसः सखायः समग्निमिन्ध्वं बहवः सनीळाः।
दधिक्रामग्निमुषसं च देवीमिन्द्रावतोऽवसे निह्वये वः॥
ऋ० १०।१०१।१॥

(समनसः) हे एक मन=विचार वाले (सखायः) एक भाव वाले लोगो ! (उद्बुध्यध्वम्) उठो, जागो, समझो। (सनीळाः) एक घर वाले (बहवः) [तुम] अनेक लोग (अग्निम्) ज्ञानाग्नि को (सम्+इन्ध्वम्) उत्तमता से प्रज्वलित करो। (दधिक्राम) धारणशक्तियुक्त क्रियाशील (अग्निम्) अग्नि को [=तेजस्वी पुरुष को] (उषसम्) उषा को [=कमनीय, कान्तिमयी] (देवीम्) दिव्यगुणयुक्त शक्ति को (इन्द्रावतः) ईश्वर भक्त ऐश्वर्यसिद्धि के लिए (नि ह्वये) नितरां चाहता हूँ।

सामाजिक उन्नति के सूत्रों का संकेत इसमें किया गया है। सामाजिक उन्नति चाहने वालों के लिए एक मन वाला होना अत्यन्त आवश्यक है। सारा-का-सारा राष्ट्र या समूचा समाज एक ही ढंग से और एक ही बात को जब सोचता है, तब उस राष्ट्र या समाज के लिए कुछ असाध्य वा दुस्साध्य नहीं रह जाता। समनस्=एक विचार वाला होने के लिए 'सखा'=एक भावना वाला=एक लक्ष्य-वाला होना भी अत्यन्त आवश्यक है। यदि लक्ष्य एक न हो, सब के उद्देश्य भिन्न-भिन्न हों, तब सबका विचार एक कैसे हो सकता है ? विचारों और भावना=लक्ष्य की एकता ही समाज में विचारों और आचारों की एकता उत्पन्न किया करती है।

जिस समाज में विचार और आचार की एकता के मूलभूत लक्ष्य की एकता जागरण=सावधानता भी है, उसके उन्नत होने में सन्देह ही क्या है ?

समाज बहुतों के समुदाय का नाम है। समुदाय या समाज जहाँ बहुतों से बनता है, वहाँ उन बहुतों का एक स्थानस्थ होना अनिवार्य्य

है। यदि वे एक स्थानस्थ न होंगे, तो उनके भावों, विचारों, और आचारों की एकता होने का कोई लाभ नहीं हो सकेगा, क्योंकि उनके विचार-आचार मिलकर किसी एक वस्तु के निष्पादन में असमर्थ रहेंगे।

'समग्निमिन्ध्वं बहवः सनीलाः' में कई भाव हैं। एक स्थान पर बहुत-से मिलकर अग्नि प्रज्वलित करें। अर्थात् पाठशाला, विद्यालय आदि की स्थापना-द्वारा ज्ञानाग्नि के प्रज्वलित करने के भाव के साथ-साथ मिलकर अग्निहोत्र करने तथा सम्मिलित प्रार्थना-उपासना के भाव भी इससे अभिव्यक्त हो रहे हैं। किसी भी सामाजिक कार्य्य की सिद्धि इसके अनुसार आचरण करने से सहज में प्राप्त हो सकती है।

मन्द्रा कृणुध्वं धिय आ तनुध्वं नावमरित्रपरणी कृणुध्वम् ।
इष्कृणुध्वमायुधारं कृणुध्वं प्राञ्चं यज्ञं प्रणयता सखायः ॥

ऋ० १०। १०१। २॥

(सखायः) हे समान भावना वालो ! (मन्द्रा) आनन्द देने वाली क्रियाएँ (कृणुध्वम्) तुम करो। (धियः) कर्म्मों और ज्ञानों को (आ) सब प्रकार (तनुध्वम्) तुम फैलाओ। (नावम्) नौका को (अरि-त्र-परणीम्) शत्रुओं से बचाकर पार ले-जाने वाली (कृणुध्वम्) तुम बनाओ। (इष्कृणुध्वम्) सबके लिए अन्न तय्यार करो (आयुधारम्) [समाज को] हथियार से सुसज्जित (कृणुध्वम्) करो। (प्राञ्चम्) आगे ले-जाने वाले (यज्ञम्) यज्ञ को=देव-पूजा-संगति-दानरूप कर्म्म को (प्रणयत) उत्तमता से आगे ले चलो।

समाज के सारे सदस्य एक भावना वाले होवें। वे सभी एक-दूसरे के आनन्द बढ़ाने का यत्न करें। सदा बुद्धिपूर्वक कर्म्म करें। पारस्परिक प्रेम और बुद्धियुक्त कर्म्मों के द्वारा वे सामाजिक एकता-रूपी एक ऐसी नौका बना सकेंगे, जिसको शत्रु तोड़ न सकेंगे, वरन्,

वह शत्रु के बीच में से समाज को बचाकर पार लेजा सकेगी। इस सामाजिक संघठन का फल यह होना चाहिए कि सबको अन्न अर्थात् जीवनसामग्री मिलनी चाहिए। समाज की रक्षा के लिए सभी को शस्त्रास्त्र से सुसज्जित रहना चाहिए। सामाजिक संघठन यज्ञ का रूप धारण करने वाला हो। अर्थात् समाज में ज्ञानवृद्धों, गुणवृद्धों, वयोवृद्धों का यथायोग्य आदर-मान-सत्कार हो। उत्तम पुरुषों की सत्सङ्गति सदा सुलभ हो। ज्ञानदान, अन्नदान, वस्त्रदान आदि का सत्र=सदावर्त्त सदा चलता रहे। अर्थात् ऐसी व्यवस्था होनी चाहिए कि समाज में कोई दुर्बल न हो, कोई भूखा-नंगा न हो, कोई अपठित-अज्ञानी न हो। 'नावस्—कृणुध्वम्' से नौका—समुद्र में और अन्तरिक्ष में चलने वाले यान-बनाने का निर्देश है। युद्ध और व्यापार तथा विहार के लिए जल और आकाश के यान अत्यन्त आवश्यक हैं।

'आयुधारं कृणुध्वम्' से यह भाव झलकता है कि सामान्य रूप से समाज को ऐसी शिक्षा दो कि प्रत्येक व्यक्ति अपनी रक्षा करने में समर्थ हो, आपत्ति पड़ने पर परमुखापेक्षी न हो। और आवश्यकता पड़ने पर सारे सदस्य समाजरक्षार्थ शस्त्रास्त्र ग्रहण कर सकें।

स्वस्ति पन्थामनु चरेम सूर्य्याचन्द्रमसाविव ।
पुनर्ददताऽघ्नता जानता सङ्गमेमहि ॥

ऋ० ५। ५१। १५॥

(सूर्य्याचन्द्रमसौ-इव) सूर्य और चन्द्र के समान (पन्थाम्) मार्ग का (स्वस्ति=सु+अस्ति) उत्तमरीति से (अनु+चरेम) हम अनुसरण करें। (पुनः) फिर (ददता) देने वाले के साथ (अघ्नता) घातपात न करने वाले के साथ, अद्रोही के साथ (जानता) ज्ञानी के साथ (सम्+गमेमहि) हम संगति करें।

सामाजिक उन्नति का आधार वैयक्तिक उन्नति है। वैयक्तिक उन्नति का मूल वैयक्तिक आचार का सुधार है। इसी भाव को

मन्त्र का पूर्वार्द्ध व्यक्त करता है। जिस प्रकार सूर्य्य-चन्द्र अपने मार्ग में, परिधि में सुखपूर्वक चलते ; हैं अपने मार्ग में अव्याहत चलते हुए वे संसार को प्रकाश, ताप, शीतलता, जल, ऋतु आदि का दान करते हैं, किसी का व्याघात नहीं करते, ऐसे ही मनुष्य को मनुष्यता की परिधि में चलते हुए यथासम्भव दान करना चाहिए। किसी की हत्या, हिंसा नहीं करनी चाहिए, किसी का घातपात, अथवा किसी के साथ विश्वासघात नहीं करना चाहिए। और सदा कर्त्तव्यकर्म्म का ज्ञान रखना चाहिए। मनुष्य को इसके लिए ऐसे ही दानी, ज्ञानी, पराहितविधातक, पर-इष्ट-साधक का संग सदा करना चाहिए। ऐसा करने से मनुष्य का कल्याण होगा।

ब्रह्म क्षत्र का सहयोग

यत्र ब्रह्म च क्षत्रं च सम्यञ्चौ चरतः सह ।
तं लोकं पुण्यं प्रज्ञेषं यत्र देवाः सहाग्निना ॥

य० २०।२५॥

(यत्र) जहाँ (ब्रह्म) ज्ञानशक्ति, ज्ञानी (च-च) और (क्षत्रम्= क्षत्रशक्ति) कर्मशक्ति शूरवीर (सम्यञ्चौ) एकरस मिल जुलकर (सह) साथ (चरतः) विचरते हैं। (यत्र) [और] जहाँ (देवाः) व्यवहारकुशल विद्वान् (अग्निना) तेज के (सह) साथ [इकट्ठे विचरते हैं] (तम्) उस (लोकम्) देश को (पुण्यम्) पुण्य (प्रज्ञेषम्) मैं जानता हूँ।

जिस प्रकार शरीर में ज्ञानेन्द्रियों और कर्म्मेन्द्रियों का सहयोग शरीरयात्रा के लिए आवश्यक है, इसी प्रकार समाजशरीर में ज्ञानी=ब्रह्म, और कर्म्मी=क्षत्रशक्ति का सहयोग भी अनिवार्य्य है। समाजरूप शरीर को स्वस्थ रखने के लिए इन दोनों का पारस्परिक सहयोग और सहकारिता अत्यन्त आवश्यक है। ज्ञानेन्द्रियों और कर्म्मेन्द्रियों का असहयोग तब होता है, जब या तो मनुष्य पागल

हो या उसके ज्ञानेन्द्रिय विकल हों, अथवा सिर ठीक होते हुए भी धड़ का निचला भाग जब विकृत हो गया हो। इसी प्रकार ब्राह्मण के पागल, प्रमादी होने पर या क्षत्रिय वैश्य शूद्र के कर्त्तव्यविमुख होने पर ब्रह्म और क्षत्र शक्तियों का आपस में सहयोग नहीं हो सका करता। दोनों के सहयोग के लिए दोनों को ठीक रखना आवश्यक है।

सहृदयता

सहृदयं सांमनस्यमविद्वेषं कृणोमि वः।
अन्यो अन्यमभिहर्यत वत्सं जातमिवाघ्न्या ॥

अ० ३।३०।१॥

(वः) तुम्हारे लिए (सहृदयम्) सहृदयता (सांमनस्यम्) एक मनस्कता, मन के उत्तम भाव (अविद्वेषम्) [तथा] निर्वैरता को (कृणोमि) [विहित] करता हूँ। (अन्योअन्यम्) एक-दूसरे को (अभि+हर्यत) [ऐसा] चाहो, प्रेम करो (इव) जैसे (जातम्) उत्पन्न (वत्सम्) बछड़े को (अघ्न्या) गौ [प्यार करती है]।

दिल एक हो, दिमाग एक हो, तब द्वेषभाव का नाश होकर परस्पर प्रीति बढ़ेगी। एक-दूसरे से ऐसी प्रीति करो, जैसे गौ अपने सद्यः-प्रसूत बछड़े से करती है। वेद की इस उपमा में बहुत गंभीर रहस्य है। मनुष्य का सन्तान पर प्रेम स्वार्थयुक्त होता है। मनुष्य अपनी सन्तान से कुछ-न-कुछ आशा-अभिलाषा रखता है। परन्तु गौ का अपने बछड़े पर निःस्वार्थ प्रेम होता है। जब मनुष्य मनुष्य का इस प्रकार का स्वार्थ-शून्य स्नेह होगा, तब यहाँ सुख-शान्ति का धाम विराजेगा।

अनुव्रतः पितुः पुत्रो मात्रा भवतु संमनाः।
जाया पत्ये मधुमतीं वाचं वदतु शंतिवाम् ॥

अ० ३।३०।२॥

(पुत्रः) पुत्र (पितुः) पिता के (अनुव्रतः) अनुकूल व्रतवाला (भवतु) होवे (मात्रा) माँ के साथ (संमनाः) एक मन वाला [होवे] (जाया) पत्नी (पत्ये) पति के प्रति (मधुमतीम्) मीठी (शन्तिवाम्) शान्ति देने वाली (वाचम्) वाणी को (वदतु) बोले।

पहले मन्त्र में सांमनस्य और पारस्परिक प्रीति का उपदेश किया गया है। विशाल संसार का संक्षिप्त रूप है राष्ट्र, और उसका संक्षिप्त रूप है समाज और समाज का संक्षिप्त रूप है परिवार। इस मन्त्र में और इससे अगले में परिवार में परस्पर व्यवहार का प्रकार बताया गया है। सन्तान माता-पिता के व्रतों को पूरा करने वाली हो। पति-पत्नी का पारस्परिक प्रेममय मधुर व्यवहार होना चाहिए जो प्रेम अपने तक सीमित था, उसके विस्तार का अभ्यास करने के लिए पहले परिवार में उसका प्रस्तार करना चाहिए। परिवार से ऊपर उठकर समाज में और उससे आगे बढ़कर संसार में विस्तार करके विद्वेष, वैर से अपना निस्तार करना चाहिए। इस प्रकार आत्मिक एवं सामाजिक उन्नति सहज से प्राप्त हो सकेगी।

मा भ्राता भ्रातरं द्विक्षन्मा स्वसारमुत स्वसा ।
सम्यञ्चः सव्रता भूत्वा वाचं वदत भद्रया ॥

ऋ० ३ । ३० । ३ ॥

(भ्राता) भाई (भ्रातरम्) भाई को (स्वसारम्) [और] बहिन को (मा) मत (द्विक्षत्) द्वेष करे। (उत) और (स्वसा) बहिन [भ्रातरम् उत स्वसारम्] भाई और बहिन को [मा द्विक्षत्] मत द्वेष करे। (सम्यञ्चः) एक चाल वाले (सव्रताः) एक व्रत वाले (भूत्वा) होकर (भद्रया) भली रीति से (वाचम्) वाणी को (वदत) तुम बोलो।

परिवार में पारस्परिक अविद्वेष और प्रीति कैसे उत्पन्न हो ?

इसका उपाय अगले मन्त्र में बताते हैं---

येन देवा न वि यन्ति नो च विद्विषते मिथः ।
तत्कृण्मो ब्रह्म वो गृहे संज्ञानं पुरुषेभ्यः ॥

अ० ३ । ३० । ४ ॥

(येन) जिससे (देवाः) विद्वान्, व्यवहारकुशल (न) नहीं (वि+यन्ति) वियुक्त होते। (च) और (न) ना ही (मिथः) परस्पर (विद्विषते) वैर करते हैं। (तत्) उस (संज्ञानम्) एकता का बोध कराने वाले (ब्रह्म) ज्ञान को (वः) तुम्हारे (गृहे) घर में, हृदय में (पुरुषेभ्यः) [तुम] पुरुषों के लिए (कृण्मः) हम करते हैं।

विद्वानों में पारस्परिक प्रीति और निर्वैरता ज्ञान के कारण होती है। वे समझते हैं कि परिवार की धुरी एकता के आश्रय पर चल रही है। अतः वे छोटी-छोटी बातों को लेकर पृथक् नहीं होते, और न ही क्षुद्र मतभेद के कारण एक-दूसरे से द्वेष या विरोध करते हैं। जिस घर में इस प्रकार उत्तमज्ञान है, वहाँ कभी फूट नहीं पड़ सकती। यथार्थ ज्ञान फूट का नाश करता है।

ज्यायस्वन्तश्चित्तिनो मा वि यौष्ट संराधयन्तः सधुराश्चरन्तः ।
अन्यो अन्यस्मै वल्गु वदन्त एत सध्रीचीनान्वः संमनसस्कृणोमि ॥

अ० ३ । ३० । ५ ॥

(ज्यायस्वन्तः) बड़ों वाले [जिनके घर में बड़े उपस्थित हैं] (चित्तिनः) विचारशील (संराधयन्तः) एक मत से कार्यसिद्धि करने वाले (सधुराः) एक धुरा वाले होकर (चरन्तः) विचरते हुए (मा) मत (वि+यौष्ट) तुम वियुक्त होओ। (अन्यो+अन्यस्मै) एक दूसरे के लिये, परस्पर (वल्गु) मनोहर, मधुर (वदन्तः) बोलते हुए (एत) तुम आगे आओ। (संमनसः) समान मन वाले (वः) तुम लोगों को (सध्रीचीनान्) समान गति वाला (कृणोमि) करता हूँ।

घर मे बड़े हो, अर्थात् घर में बड़ों को बड़ा समझा जाता हो।

सभी विचारशील हो, विवेकी हों। एकमत होकर कार्य करते हों, सब पर एक प्रकार के कार्य का भार हो, तब वे एक-दूसरे से जुदा न होंगे। जिन पर समान कार्य्य का भार हो, जब वे एक दुसरे के सामने आएँ, तब एक-दूसरे को गाली न दें वरन् प्रेमपूर्वक बोलते हुए मिलें। अपने मनों में एकता पैदा करो, व्यवहार-आचार में एकता अपने-आप आ जएगी।

समानी प्रपा सह वोऽन्नभागः समाने योक्त्रे सह वो युनज्मि।
सम्यञ्चोऽग्निं सपर्यतारा नाभिमिवाभितः ॥ अ० ३।३०।६॥

(वः) तुम्हारी (प्रपा) प्याऊ, पानी पीने की जगह (समानी) एक साथ [हो], (अन्न भाग) [तुम्हारा] भोजन सेवन (सह) साथ [हो]। (वः) तुमको (समाने) एक, एक जैसे (योक्त्रे) जुए में (युनज्मि) जोड़ता हूँ। (सम्यञ्चः) एक गति वाले होकर (अग्निम्) ज्ञान को, भगवान् को (सपर्यत) पूजो, सेवन करो (इव) जिस प्रकार (अराः) अरे (अभितः) सब ओर से (नाभिम्) [रथ की] नाभि के धुरे का [सेवन करते हैं]।

मनुष्यों में आजकल खान-पान के कारण भेदभाव हो रहा है वेद उसका निषेध करता है। वेद तो एक स्थान पर और समान खान-पान का विधान कर रहा है। खान-पान की बात जाने दीजिये वेद तो मनुष्यों के लिए जीवन का लक्ष्य भी एक ही बताता है। जिस प्रकार रथ की नाभि के चारों ओर अरे जुड़े होते हैं और वे एक कार्य्य के साधक होते हैं, इसी प्रकार मनुष्यों को चाहिए कि गृह्याग्नि के चारों ओर बैठकर यज्ञिय अग्नि का सेवन करें।

सध्रीचीनान्वः संमनसस्कृणोम्येकश्नुष्टीन्त्संवननेन सर्वान्।
देवा इवामृतं रक्षमाणाः सायं प्रातः सौमनसो वो अस्तु॥
अ० ३।३०।७॥

(संमनसः) समान मनवाले (सध्रीचीनान्) [और] समान चाल

वाले (वः सर्वान्) तुम सबको (संवननेन) एक-से सभाजन के द्वारा (एकश्नुष्टीन्) समान खान-पान वाला (कृणोमि) करता हूँ, बनाता हूँ। (देवाः इव) [तुम] इन्द्रियों की भाँति (अमृतं) जीवन को (रक्षमाणः) बचाते रहो ; (सायं प्रातः) साँझ-सवेरे (वः) तुम्हारी (सौमनसः+अस्तु) सुमनस्कता, मन की भलाई होवे।

विचार और व्यवहार की एकता होने पर खान-पान की समानता होनी चाहिए। खान-पान की असमानता तथा विभिन्नता के कारण संसार में बहुत कलह और क्लेश होता रहता है। सब प्रकार की समानता लाने से जीवन भी सुरक्षित होगा और मन भी शान्त और अक्षुब्ध होगा।

इन मन्त्रों का गम्भीरता से मनन कीजिये, ऐसी समता और समानता का दिव्य उपदेश आपको वेद के अतिरिक्त अन्य किसी ग्रन्थ में नहीं मिलेगा। मनुष्यों में समानता लाने का जो यथार्थ और अव्यर्थ उपाय है, वह भी वेद ने स्पष्ट करके सुझा दिया है। जो संसार में समता लाना चाहते हैं, उन्हें इन वेदमन्त्रों का मनन करके इनके अनुसार व्यवहार का प्रचार करना चाहिए। संसार में समता लाने और शान्ति स्थापित करने का इससे बढ़िया और कोई साधन ही नहीं है।

ब्रह्मचर्य्य

ब्रह्मचर्य वैदिक धर्म्म और वैदिक संस्कृति की एक विशेषता है। ब्रह्मचर्य्य की महिमा के लिए अथर्ववेद में दो सूक्त हैं। हमने कुछ मन्त्र यहाँ दिये हैं। पाठकों को पूरा रस लेने के लिए अथर्ववेद ११।५ (७) सूक्त का विशेष स्वाध्याय करना चाहिए। ब्रह्मचर्य्य का महत्त्व महर्षि ने इस प्रकार समझाया है— "देखो, जिसके शरीर में सुरक्षित वीर्य्य रहता है। तब उसको आरोग्य, बुद्धि-बल-पराक्रम, बढ़के बहुत सुख की प्राप्ति होती है। इसके रक्षण की यही रीति है कि विषयों की कथा, विषयी लोगों का सङ्ग, विषयों का ध्यान, स्त्री का दर्शन, एकान्त-सेवन, संभाषण और स्पर्श आदि कर्म्म से ब्रह्मचारी लोग पृथक् रहकर उत्तम शिक्षा और पूर्ण विद्या को प्राप्त होवें। जिसके शरीर में वीर्य्य नहीं होता, वह महःकुलक्षणी.. दुर्बल, निस्तेज, निर्बुद्धि, उत्साह, साहस, धैर्य्य, बल, पराक्रमादि गुणों से रहित होकर नष्ट हो जाता है।"

"जो विवाह करना ही न चाहें और मरणपर्य्यन्त ब्रह्मचारी रह सकते हों तो भले ही रहें। परन्तु यह काम पूर्ण विद्या-बल वाले जितेन्द्रिय और योगी स्त्री और पुरुष का है। यह बड़ा कठिन काम है जो काम के वेग को थाम के इन्द्रियों को अपने वश में रखना।"

ब्रह्मचारी का कर्त्तव्य

इयं समित् पृथिवी द्यौर्द्वितीयोतान्तरिक्षं समिधा पृणाति ।
ब्रह्मचारी समिधा मेखलया श्रमेण लोकाँस्तपसा पिपर्त्ति ॥
अ० ११ । ५ । ४ ॥

(इयं पृथिवी) यह पृथिवी (समित्) [पहली] समिधा है (द्यौः) द्यौ (द्वितीया) दूसरी [समिधा है] (उत) और [ब्रह्मचारी]

(समिधा) [तीसरी] समिधा से (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्ष को (पृणाति) तृप्त करता है, पूर्ण करता है। (ब्रह्मचारी) ब्रह्मचारी (समिधा) समिधा से—यज्ञानुष्ठान से (मेखलया) मेखला से--कटिबद्ध होने से (श्रमेण) श्रम से—शारीरिक परिश्रम से (तपसा) [तथा] तप से—आत्मिक तप से (लोकान्) सब लोगों को (पिपर्ति) पालता है।

मन्त्र के पूर्वार्द्ध में ब्रह्मचारी का कर्त्तव्य और उत्तरार्ध में ब्रह्मचर्य्य के साधन बताए गए हैं। ब्रह्मचर्य्याश्रम का यज्ञानुष्ठान और ज्ञानार्जन मुख्य ध्येय है। उसके लिए मेखलाबन्धन अर्थात् वीर्य्यरक्षा, शरीरिक श्रम एवं आत्मिक तप प्रधान साधन हैं। लोकरक्षा ब्रह्मचारी का कर्त्तव्य है। अग्निहोत्र करते समय जो तीन समिधाएँ वह अग्नि में डालता है मानो वह अपनी प्रतिज्ञा को दोहराता है।

आचार्य्य और राजा ब्रह्मचारी हों

आचार्य्यो ब्रह्मचारीऽब्रह्मचारी प्रजापति।
प्रजापतिर्विराजति विराडिन्द्रोऽभवद्वशी ॥

अ० ११।५।१६॥

(आचार्य्यः) आचार्य्य (ब्रह्मचारो) ब्रह्मचारी हो। (प्रजापतिः) प्रजापालक राजा (ब्रह्मचारी) ब्रह्मचारी हो। (प्रजापतिः) ब्रह्मचारी प्रजापालक (विराजति) विशेष शोभा पाता है। (वशी) जितेन्द्रिय (विराट्) विशेष शोभावाला [प्रजापति ही] (इन्द्रः) इन्द्र=ऐश्वर्य्य वाला (अभवत्) हो सकता है।

शिक्षकों, राजाओं और राज्याधिकारियों को ब्रह्मचारी होना चाहिए। व्यभिचारी, लम्पट, विषयी आचार्य्य शिष्यों में दुराचार फैलाने का कारण बनेगा। राजा या राजाधिकारी का तो प्रजा पर विशेष प्रभाव पड़ता है। यथा राजा तथा प्रजा। राजा यदि दुराचारी,

दुर्व्यसनी और असंयमी हो, तो प्रजा को सदाचार में कैसे प्रवृत्त करा सकता है। असंयम और अजितेन्द्रियता के कारण बड़े-बड़े साम्राज्य नष्ट हो जाते हैं। आचार्य्य मनुष्य की रचना करता है। राजा मनुष्य की पालना करता है। दुराचारी आचार्य्य दुराचारी मनुष्यों की रचना=सृष्टि करेगा, दुराचारी राजा अपने जैसों की पालना करेगा, अतः समस्त राष्ट्र भ्रष्ट हो जायेगा। राष्ट्ररक्षा के लिए आचार्य्य और राजा दोनों का ब्रह्मचारी सदाचारी होना आवश्यक है।

इसी भाव को निम्नलिखित मन्त्र में अधिक स्पष्ट किया गया है—

ब्रह्मचर्य्येण तपसा राजा राष्ट्रं वि रक्षति ।
आचार्य्यो ब्रह्मचर्य्येण ब्रह्मचारिणमिच्छते ॥
अ० ११।५(७)।१७॥

(राजा) राजा (ब्रह्मचर्य्येण) ब्रह्मचर्य्य (तपसा) तप से (राष्ट्रम्) राष्ट्र की (वि—रक्षति) विशेष रक्षा करता है। (आचार्य्यः) आचार्य्य (ब्रह्मचर्य्येण) ब्रह्मचर्य्य के द्वारा (ब्रह्मचारिणम्) ब्रह्मचारी को, वेदाध्यायी को (इच्छते) चाहता है।

ब्रह्मचर्य्य तप है। राष्ट्र की रक्षा में ब्रह्मचर्य्य विशेष उपकारक होता है। ब्रह्मचर्य्य का महत्त्व जानने वाला आचार्य्य ब्रह्मचारी शिष्य की कामना करता है।

कन्या भी ब्रह्मचारिणी

ब्रह्मचर्य्येण कन्या युवानं विन्दते पतिम् ।
अनड्वान् ब्रह्मचर्य्येणाश्वो घासं जिगीर्षति ॥
अ० ११।५(७)।१८॥

(कन्या) कन्या (ब्रह्मचर्य्येण) ब्रह्मचर्य्य के द्वारा, (युवानम्) जवान (पतिम्) पति को (विन्दते) प्राप्त करती है। (अनड्वान्) अनड्वान् (अश्वः) [और] अश्व (ब्रह्मचर्य्येण) ब्रह्मचर्य्य के द्वार,

(घासम्) भोगयोग्य को (जिगीर्षति) ग्रहण करना चाहता है, निगलना चाहता है।

विवाह के अभिलाषी वर-वधू दोनों ब्रह्मचारी होने चाहिएँ ! 'अनड्वान्' और 'अश्व' कामशास्त्र की दो विशेष संज्ञाएँ है। जिनके अन्दर पुँस्त्वशक्ति विशेष रूप में होती है, उन्हें 'अश्व' और 'अनड्-वान्' कहा जाता है। ये भी अपने भोग्य को ब्रह्मचर्य्य से भोगते हैं। दूसरे शब्दों में उत्तम गृहस्थ वह है, जो ब्रह्मचर्य्य से, संयम से गृहस्थ-धर्म का पालन करता है।

ब्रह्मचर्य्य से मृत्यु विजय

ब्रह्मचर्य्येण तपसा देवा मृत्युमुपाघ्नत ।
इन्द्रो ह ब्रह्मचर्य्येण देवेभ्यः स्वरा भरत् ॥
अ० ११। ५। (७)। १९॥

(ब्रह्मचर्य्येण) ब्रह्मचर्य्य (तपसा) तपसे (देवाः) विद्वान् (मृत्युम्) मृत्यु को (उप+अघ्नत) मार भगाते हैं। (इन्द्रः) इन्द्र= जीवात्मा (ह) भी (ब्रह्मचर्य्येण) ब्रह्मचर्य्य के द्वारा (देवेभ्यः) देवों से, इन्द्रियों से (स्वः) सुख (आ भरत) प्राप्त करता है।

ब्रह्मचारी को मृत्यु का भय ही नहीं रहता, क्योंकि वह ब्राह्मचर्य्य और वेदाध्ययन के द्वारा मृत्यु का रहस्य जान लेता है। इन्द्रियाँ आत्मा के लिए भोग जुटाती हैं, किन्तु ज्ञानी कहते हैं—'भोगे रोग-भयम्=भोग में रोग का डर होता है।' इस वास्ते ज्ञानी आत्मा इन्द्रियों को संयम में रखता है, इससे आत्मा को सुख मिलता है। सयम का दूसरा नाम ब्रह्मचर्य्य है।

ब्रह्मचारी का स्वरूप

ब्रह्मचारी ब्रह्म भ्राजद्बिभर्ति तस्मिन्देवा अधि विश्वे समेताः ।
प्राणापानौ जनयन्नाद् व्यानं वाचं मनो हृदयं ब्रह्म मेधाम् ।।
अ० ११ । ५ (७) । २५ ।।

चक्षुः श्रोत्रं यशो अस्मासु धेह्यन्नं रेतो लोहितमुदरम् ।।
अ० ११ । ५ (७) । २५ ।।

(प्राणापानौ) प्राण और अपान को (आत्) और (व्यानम्) व्यान को (वाचम्) वाणी को (मनः) मन को, मन की शक्ति को (हृदयम्) हृदय को, दिली ताकत को (ब्रह्म) ज्ञान को (मेधाम्) मेधा को (जनयन्) प्रकट करता हुआ (भ्राजत्) देदीप्यमान (ब्रह्मचारी) ब्रह्मचारी (भ्राजत्) देदीप्यमान (ब्रह्म) ज्ञान को (बिभर्ति) धारण करता है। (तस्मिन् अधि) उसमें अधिकारपूर्वक (विश्वे) सब (देवाः) दिव्य गुण (सम्—एताः) एक होकर रहते हैं [हे ब्रह्मचारिन् !] (चक्षुः) आँख (श्रोत्रम्) कान (यशः) यश (अन्नम्) अन्न (रेतः) वीर्य्य (लोहितम्) रक्त, (उदरम्) पेट (अस्मासु) हम में (धेहि) धारण करो।

ब्रह्मचर्य्य के साधन से प्राणशक्ति बढ़ती है। और प्राण, अपान, तथा व्याना पर ब्रह्मचारी का पूर्ण अधिकार हो जाता है। प्राणों के अधिकार में आने के साथ वाणी, मन, हृदय, ज्ञान, बुद्धि सभी शक्तियुक्त होकर बढ़ते हैं। इससे ब्रह्मचारी की ज्ञानशक्ति विमल होती है। ब्रह्मचर्य्य की साधना के साथ इन्द्रियों की शक्ति बढ़ती है। मनुष्य के अन्दर वीर्य और स्त्री के अन्दर लोहित=रज की वृद्धि होती है। इन मन्त्रों पर दृष्टि देने से ज्ञात होता है कि ब्रह्मचर्य्य का अर्थ वीर्य्यरक्षा, ज्ञानाभ्यास तथा योगसाधन है।

—❀—

गृहस्थ

समाज और व्यक्ति का मूल गृहस्थाश्रम है। गृहस्थाश्रम विवाह से सिद्ध होता है। वेद में विवाह और गृहस्थाश्रम के सम्बन्ध में बहुत ऊँचे तत्त्व हैं। उन सबको यहाँ लिखना, स्थानाभाव के कारण, असम्भव है। थोड़े से संकेत यहाँ लिखे गए हैं, उन्हीं से आपको वैदिक शिक्षा का गौरव प्रतीत हो जाएगा। आज का गृहस्थाश्रम गड़बड़ अवस्था में है। वेदज्ञान के प्रकाश में उसका सुधार करना चाहिए। अधिक जिज्ञासा वालों को ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, सत्यार्थप्रकाश और संस्कारविधि देखने चाहिए।

चार वर्ण=चातुर्वर्ण्य भी गृहस्थ का भेद है।

युवा-युवति-विवाह

तमस्मेरा युवतयो युवानं मर्मृज्यमानाः परि यन्त्यापः ।
स शुक्रेभिः शिक्वभी रेवदस्मे दीदायानिध्मो घृतनिर्णिगप्सु ॥
ऋ० २।३५।४॥

(मर्मृज्यमानाः+आपः) अत्यन्त शुद्धिकारक जल के समान (अस्मेराः) अहंकारशून्य, कुछ मुस्कराती हुई (युवतयः) जवान कन्याएँ (तम्+युवानम्) उस युवा को (परि यन्ति) प्राप्त होती हैं। (सः) वह युवा (शुक्रेभिः+शिक्वभिः) पवित्र शक्तियों से युक्त (रेवत्) धनवान् के समान (अस्मे+दीदाय) हमें चमकाए (अनिध्मः) [जैसे] ईंधनरहित (अग्निः) विद्युत् (अप्सु) जल में [रहती हुई] (घृतनिर्णिक्) जल की पुष्टि करती है, अथवा तेज को शुद्ध करती है।

युवा और युवति का विवाह होना चाहिए। दोनों के हृदयों के

भाव अत्यन्त शुद्ध और पवित्र हों। पुरुष परिवारों की दीप्ति का कारण होना चाहिए, अर्थात् बलवीर्य्यसम्पन्न होना चाहिए। जैसे विद्युत् जल में रहता हुआ जल कीं चमक का हेतु होता है, ऐसे पुरुष विवाह करके परिवार के तेज का कारण बने।

विवाहप्रयोजन

आत्मन्वत्युर्वरा नारीयमागन् तस्यां नरो वपत बीजमस्याम्।
स वः प्रजां जनयद् वक्षणाभ्यो बिभ्रती दुग्धमृषभस्य रेतः॥
अ० १४।२।१४॥

(आत्मन्वती) आत्मिक शक्तियुक्त, मनस्विनी (उर्वरा इयम्) अवन्ध्या यह (नारी+आ+अगन्) स्त्री आई है (नरः) हे नरो! (तस्याम्+बीजम्) उसमें बीज (वपत) बोओ। (सा) वह स्त्री (ऋषभस्य) वीर्य्यसेचनसमर्थ पुरुष के (रेतः+बिभ्रती) वीर्य्य को धारण करती हुई (वक्षणाभ्यः) वखियों से, कूख से (दुग्धम्) दूध को [धारण करती हुई] (वः+प्रजाम्) तुम्हारे लिए सन्तान (जनयत्) पैदा करे।

ऐसी स्त्री से विवाह करना चाहिए जो वन्ध्या न हो, मनस्विनी हो, गर्भधारण में समर्थ हो, सन्तान पैदा होने पर बच्चे के लिए दूध भी जिसके स्तनों में हो। पुरुष भी वीर्य्यवान् हो, नपुंसक निर्वीर्य्य न हो।

एक समय में दो पत्नियों का निषेध

उभे धुरौ वह्निरापिब्दमानोऽन्तर्योनेव चरति द्विजानिः।
वनस्पतिं वन आस्थापयध्वं नि षू दधिध्वमखनन्त उत्सम्॥
ऋ० १०।१०१।११॥

(योना+अन्तः) घर में (द्विजानिः+इव) दो स्त्रियों वाले के समान (आपिब्दमानः) हिनहिनाता हुआ (वह्निः) भार उठाने वाला

घोड़ा (उभौ+धुरौ) दोनों धुरों को [उठाके] (चरति) विचरता है। (वने+वनस्पतिम्) जंगल में वनस्पति को (आस्थापयध्वम्) स्थापित करो (नि+सु+दधिध्वम्) सर्वथा उत्तम [फलों को] धारण करो (उत्सम्+अखनन्त) कुआँ खोदो [और] (नि+सु+दधिध्वम्) नितरां अत्यन्त सुखी होओ।

दो धुरों का भार उठाने वाले घोड़े की जो दुर्दशा होती हैं, वही या उससे बढ़कर एक साथ दो विवाह करने वाले की होती है। इस वास्ते दूसरे विवाह से बचना चाहिए। वृक्ष लगाकर, कुएँ खोदकर संसार का उपकार करो।

पत्नी की मर्य्यादा

यथा सिन्धुर्नदीनां साम्राज्यं सुषुवे वृषा।
एवा त्वं सम्राज्ञ्येधि पत्युरस्तं परेत्य॥

ऋ० १४।१।४३॥

(यथा) जैसे (वृषा+सिन्धुः) बलवान् सागर ने (नदीनाम्+साम्राज्यम्) नदियों के साम्राज्य को (सुषुवे) पैदा किया है। (एवा+त्वम्) ऐसी ही तू (पत्युः+अस्तं) पति के घर (परेत्य) जाकर (सम्राज्ञी+एधि) महारानी हो।

यहाँ स्त्री को घर की महारानी बताया है। स्त्री का इतना आदर और अधिकार अन्य किसी मतपंथ में नहीं है।

स्त्री का माहात्म्य

उत त्वा स्त्री शशीयसी पुंसो भवति वस्यसी।
अदेवत्रादराधसः॥ ऋ० ५।६१।६॥

(त्वा+शीयसी) एक पतिव्रता स्त्री (उत) तो (अदेवत्रात्) नास्तिक (अराधसः) पूजा न करने वाले (पुंसः) पुरुष की अपेक्षा (वस्यसी भवति) अधिक पूजनीय होती है।

नास्तिक पुरुष की अपेक्षा पतिव्रता स्त्री बहुत श्रेष्ठ है। नास्तिक अपने स्वामी की सत्ता से इनकार कर देता है, किन्तु पतिव्रता स्त्री अपने पति के अनुकुल चलती है।

नववधू से आशा

सुमंगली प्रतरणी गृहाणां सुशेवा पत्ये श्वशुराय शम्भूः ।
स्योना श्वश्र्वै प्र गृहान् विशेमान् ॥ अ० १६।२।२६॥

(सुमंगली) उत्तम कल्याण करने वाली (गृहाणाम्+प्रतरणी) घरों की वृद्धि करने वाली (पत्ये+सुशेवा) पति के लिए अत्यन्त सुख देने वाली (श्वशुराय+शम्भूः) ससुर के लिए कल्याणी (श्वश्र्वै+स्योना) सास के लिए सुखकारिणी तू (इमान्+गृहान्) इन घरों में (प्र+विश) प्रवेश कर।

जब बहु को विवाह करके पति घर में ले आता है, तब उसको यह कहा जाता है। जो बहू सास ससुर और पति के लिए सुख देने वाली हो, उससे निस्सन्देह घर की वृद्धि ही होगी।

स्त्री के मन के भाव

अहं केतुरहं मूर्धाहमुग्रा विवाचनी ।
ममेदनु क्रतुं पतिः सेहानाया उपाचरेत् ॥

ऋ० १०।१५९।२॥

मम पुत्राः शत्रुहणोऽथो मे दुहिता विराट् ।
उताहमस्मि संजया पत्यौ मे श्लोक उत्तमः ॥

ऋ० १०।१५९।३॥

(अहम्+केतुः) मैं झण्डा हूँ, मैं ज्ञानवाली हूँ (अहम्+मूर्धा) मैं सिर हूँ, घर में प्रधान हूँ। (अहम्+उग्र+विवाचनी) मैं तेजस्विनी बोलने वाली हूँ (पतिः) पति (मम+सेहानायाः) मुझ शत्रुनाशिनी के (क्रतुम् अनु) ज्ञान और कर्म के अनुकूल (उप आचरेत्) व्यवहार

करे। (ममः पुत्राः शत्रुहणः) मेरे पुत्र शत्रघाती हैं (अथो मे) और मेरी (दुहिता विराट) कन्या तेजस्विनी है। (उत अहम्) और मैं (संजया अस्मि) विजयिनी हूँ (पत्यौ मे) पति के विषय में मेरा (श्लोकः उत्तमः) यश उत्तम है।

स्त्री घर का निशान है। पति को उसके अनुकूल आचरण करना चाहिए। स्त्री को चाहिए कि पुत्रों में वीरता के भाव भरे।

पत्नी का वस्त्र पति न पहने

अश्लीला तनूर्भवति रुशती पापयामुया।
पतिर्यद् वध्वो वाससः स्वमङ्गमभ्यूर्णुते॥

अ० १४।१।२७॥

(पतिः) पति (वध्वः वाससः) पत्नी के वस्त्र से (स्वम् अंगम्) अपने शरीर को (यत् अभि+ऊर्णुते) जो ढकता है (अमुया पापया) इस पाप-क्रिया से (रुशती तनूः) तेजस्वी शरीर (अश्लीला भवति) अश्लील, भद्दा होता है।

अभिधावृत्ति से तो यही प्रतीत होता है कि स्त्री के वस्त्र पुरुष को नहीं पहिनने चाहिएँ। किन्तु निहितार्थ यह है कि स्त्री की कमाई पर पुरुष निर्वाह न करे।

अतिथिसत्कार

इष्टं च वा एष पूर्तं च गृहाणामश्नाति यः पूर्वो अतिथेरश्नाति।

अ० ९।६।३।१॥

एष वा अतिथिर्यच्छ्रोत्रियस्तस्मात्पूर्वो नाश्नीयात्।

अ० ९।६।३।७॥

अशितावत्यतिथावश्नीयाद् यज्ञस्य सात्मत्वाय।
यज्ञस्याविच्छेदाय तद् व्रतम्॥ अ० ९।६।३।८॥

(यः+अतिथे) जो अतिथि से (पूर्वः+अश्नाति) पहले खाता है (एषः+वै) यह सचमुच (ग्रहाणाम्) घरों के (इष्टम्) इष्ट सुख को, यज्ञ-यागों को (च+च) तथा (पूर्त्तम्) पूर्णता, कूपादि लगाने रूप शुभ कर्म्म को (अश्नाति) खाता है। (यत्+श्रोत्रियः) जो वेद का विद्वान् है (वै) वास्तव में (एषः+अतिथिः) वही अतिथि है (तस्मात्+पूर्वः) इसलिए उससे पूर्व (न+अश्नीयात्) न खाए (यज्ञस्य+सात्मत्वाय) यज्ञ की सात्मता, सफलता के लिए [तथा] (यज्ञस्य+अविच्छेदाय) यज्ञ के अविच्छेद, अविनाश के लिए (अतिथौ+अशितावति) अतिथि के खा चुकने पर (अश्नीयात्) खाए (तद्+व्रयम्) यह नियम है।

अतिथि से पूर्व नहीं खाना चाहिए। अतिथि को खिलाकर ही खाना चाहिए। यह अनुल्लंघनीय व्रत है। अतिथि को घर पर भूखा रखकर जो स्वयं खाता है, उसके यज्ञ दान आदि सब निष्फल होते हैं। यज्ञ-दान आदि का मुख्य प्रयोजन परोपकार है। परोपकार का अवसर प्राप्त होने पर जो उससे लाभ नहीं उठाता, समझना चाहिए, कि उसके यज्ञ-दान आदि सब आडम्बर हैं, दिखावा हैं। वेदवेत्ता लोकोपकारी की सेवा करने से यज्ञ, जीवनयज्ञ, पुण्य एवं अन्य शुभकर्म्म सफल होते हैं।

चातुर्वर्ण्य

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः।
ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यांॅशूद्रो अजायत॥

य० ३१। ११॥

(अस्य+मुखम्) इस [समाज] का मुख (ब्राह्मणः+आसीत्) ब्राह्मण होता है। (बाहू) भुजाएँ (राजन्यः+कृतः) क्षत्रिय बनाया गया। (अस्य) इस [समाज] का (यत्+ऊरू) जो मध्य स्थान है (तत् वैश्यः) वह वैश्य है। (पद्भ्याम्) पैरों के लिए (शूद्रः+अजा-

यत) शूद्र होता है।

इस मन्त्र में आलंकारिक रीति से चार वर्णों का संकेत है। सिर की भाँति विचारप्रधान मनुष्य ब्राह्मणपद का अधिकारी, भुजा की भाँति रक्षा तथा प्रहार में तत्पर का नाम क्षत्रिय, मध्यभाग=पेट आदि की भाँति जो समस्त समाज के ऐश्वर्य का केन्द्र हो, उसे वैश्य कहते हैं। जिस प्रकार पैर सारे शरीर का भार उठाते हैं, उसी प्रकार जो समस्त समाज की सेवा करे, उसे शूद्र कहते हैं।

कई सज्जन यह आक्षेप करते हैं कि वेद में चार वर्णों की चर्चा नहीं, वरन् केवल दो वर्णों—आर्य्य और दास का उल्लेख है। और इसके लिए वे निम्नलिखित प्रमाण देते हैं—

(क) दासं वर्णमधरं गुहा कः। (ऋ० २। १२। ४) और

(ख) आर्यं वर्णमावत्। (ऋ० ३। ३४। ६)

(क) में दास वर्ण को नीचा करने तथा (ख) में आर्य्य वर्ण की रक्षा करने की बात कही गई है।

ऐसे महानुभावों की सेवा में निवेदन है कि 'वर्ण' शब्द अपने विभिन्न रूपों मे कोई २३ बार ऋग्वेद में आया है। उसमें केवल निम्नलिखित स्थलों में उसके साथ कोई विशेषण पद आया है—

१. कृष्णं च वर्णमरुणं च सं धुः। ऋ० १। ७३। ७॥
२. समानं वर्णमभि शुम्भमाना। ऋ० १। ९२। १०॥
३. सुश्चन्द्रं वर्णं दधिरे सुपेशसम्। ऋ० २। ३४। १३॥
४. प्रेमं वर्णमतिरच्छुक्रमासाम्। ऋ० ३। ३४। ५॥
५. असुर्यं वर्णं निरिणीते अस्यतम्। ऋ० ९। ७१। २॥
६. यस्य वर्णं मधुश्चुतं हरिं हिन्वन्त्यद्रिभिः। ऋ० ९। ६८। ५॥
७. परि वर्णं भरमाणो रुशन्तम्। ऋ० ९। ९७। १५॥
८. शुचिं ते वर्णं गोषु दीधरन्। ऋ० १९। १०५। ४॥
९. स्पार्हं वर्णं। ऋ० २। १। १२॥

१०. उभौ वर्णौ । ऋ० १ । १७६ । ६ ॥
११. रूशद्भिर्वर्णैरभि—ऋ० १० । ३ । ३ ॥
१२. दासं वर्णमधरं गुहा कः । ऋ० २ । १२ । ४ ॥
१३. हत्वी दस्यु प्रार्य वर्णमावत् । ऋ० ३ । ३४ । ६ ॥

यदि 'वर्ण' शब्द के साथ विशेषण रूप में पढ़ा होने के कारण 'आर्य्य' और 'दास' दो वर्ण मानें, तो 'कृष्ण' 'अरुण' 'समान' 'सुश्चन्द्र' 'सुपेशः' 'शुक्र' 'असुर्य' 'मधुश्चुत्' 'हरि' रुशत्' 'शुचि' 'स्पार्ह' भी वर्ण मानने पड़ेंगे। क्योंकि यह पद भी 'वर्ण' शब्द के साथ विशेषण रूप में पढ़े हैं। ऐसी दशा में वादी को दो वर्णों के स्थान में कम-से-कम १४ वर्ण मानने पड़ेंगे। तब वादी की अवस्था 'नमाज छुड़ाने गए रोजे गले पड़े' कहावत के अनुसार होगी। चार वर्ण हटाकर दो वर्णों की घोषणा की थी किन्तु निकल पड़े चौदह, दो के साथ बारह और जुड़ गए।

यदि कहो, कि इन सब स्थलों मे वर्ण का अर्थ 'वर्णव्यवस्था' वाला नहीं, तो 'आर्य्य' और 'दास' के साथ पढ़े शब्द का अर्थ वही है, यह कैसे माना जाए ?

प्रश्न होता है यदि वर्ण चार हैं, तो इसके लिए प्रमाण क्या है ? इसके उत्तर में निवेदन है कि विराट् पुरूष = मानव-समाज को वेद चार भागों में बाँटता है। चारों मिलकर एक देह बनाते हैं। उसका वर्णन 'ब्राह्मणोस्य—'मन्त्र में है। इस कारण हम कहते हैं कि मनुष्य-जाति के गुणकर्म्मस्वभावानुसार चार विभाग हैं, उन चार विभागों को स्मृतिकारों ने 'चारवर्ण' कहा है। और उसका मूल यही मन्त्र है।

ब्राह्मण का कर्त्तव्य

उत्तिष्ठ ब्रह्मणस्पते देवान्यज्ञेन बोधय ।
आयुः प्राणं प्रजां पशून्कीर्त्ति यजमानं च वर्धय ॥
अ० १९ । ६३ । १ ॥

(ब्रह्मणः+पते) हे वेदपालक ब्राह्मण देव ! (उत्+तिष्ठ) उठ ! सावधान हो (देवान्) विद्याभिलाषियों को (यज्ञेन) यज्ञ द्वारा=अध्यापन द्वारा (बोधय) जगा, सुझा। (आयुः) आयु को, (प्राणम्) प्राणशक्ति को, (प्रजाम्) प्रजा को, सन्तान को, (पशून्) पशुओं को (कीर्त्तिम्) कीर्त्ति को (च) और (यजमानम्) यजमान को (वर्धय) बढ़ा।

ब्राह्मण को चाहिए कि स्वयं सावधान हो और दूसरों को सावधान करे। यजमान का सब प्रकार कल्याण करे।

ब्राह्मणासः सोमिनो वाचमक्रत ब्रह्म कृण्वन्तः परिवत्सरीणम् ।
अध्वर्यवो घर्मिणः सिष्विदाना आविर्भवन्ति गुह्या न केचित् ॥
ऋ० ७ । १०३ । ८ ॥

(सोमिनः) सौम्य, शान्त अथवा सोमयाग करनेवाले (ब्राह्मणासः) ब्रह्मवेत्ता ब्राह्मण (ब्रह्म) वेद को (परिवत्सरीणम्) समस्त संसार में प्रचारित (कृण्वन्तः) करते हुए अथवा (परिवत्सरीणम्+ब्रह्म—कृण्वन्तः) बरसों यज्ञ तथा तप करने वाले होकर (वाचम्+अक्रत) बोलते हैं, उपदेश करते हैं (अध्वर्यवः) [वे] हिंसारहित कर्म करने वाले, सन्मार्ग दिखाने वाले (घर्मिणः) यज्ञयाग करने वाले तेजस्वी (सिष्विदानाः) तप करने कराने वाले (केचित्+गुह्याः+न) कुछ गुप्त पदार्थों की भाँति (आविर्+भवन्ति) प्रकट होते हैं अथवा (न केचित्+गुह्याः) कुछ न गुप्त होते हुए (आविर्+भवन्ति) प्रकट होते हैं।

ब्राह्मण का स्वभाव शान्त तपस्वी यजनशील होना चाहिए समस्त संसार में वेदप्रचार करना, भूले-भटकों को मार्ग दिखाना उसका मुख्य कर्त्तव्य है। उसे छिप के न रहना चाहिए, वरन् अपने-आप को प्रकट करके रहना चाहिए, ताकि संसार का उपकार निरन्तर होता रहे।

उपह्वरे गिरीणाᳬसङ्गमे च नदीनाम् ।
धिया विप्रो अजायत ॥ य० २६ । १५ ॥

(गिरीणाम्+उपह्वरे) पहाड़ों की गुफाओं में (च+नदीनाम्+संगमे) और नदियों के संगम पर [बैठकर] (धिया) ध्यान लगाने से (विप्रः अजायत) ब्राह्मण बनता है ।

इस मन्त्र का योगपरक अर्थ इस प्रकार हैं—
(गिरीणाम्) मेरुदण्डादि के (उपह्वरे) जोड़ों में (च) और (नदीनाम्) नाड़ियों के (संगमे) संगम में, मेल में (धिया) ध्यान करने से (विप्रः+अजायत) ब्राह्मण बनता है ।

एकान्त स्थान में धारणा-ध्यान लगाने से ब्राह्मण बनता है । शरीरस्थ चक्रों और इड़ा पिंगला, सुषुम्णा नाड़ियों के संगम में धारणा-ध्यान अभ्यास किया जाता है ।

पुरोहित

संशितं म इदं ब्रह्म संशितं वीर्य्यं बलम् ।
संशितं क्षत्रमजरमस्तु जिष्णुर्येषामस्मि पुरोहितः ॥
अ० ३ । १९ । १ ॥

(मे+इदं+ब्रह्म) मेरा यह ज्ञान (संशितम्) अत्यन्त तीक्ष्ण [है] (वीर्य्यम्) शत्रुवारण-सामर्थ्य, शक्ति, cffensive (बलम्) [और] स्वरक्षण-सामर्थ्य, बल Defensive (संशितम्) [भी] अत्यन्त तीक्ष्ण है (येषाम्) जिनका (जिष्णुः) [मैं] जयशील (पुरोहितः) पुरोहित, अगुआ (अस्मि) हूँ (क्षत्रम्) [उनका] क्षत्र=क्षात्र-सामर्थ्य (संशितम्) अत्यन्त तीव्र [तथा] (अजरम्) न दबने वाला (अस्तु) हो ।

नीचैः पद्यन्तामधरे भवन्तु ये नः सूरिं मघवानं पृतन्यान् ।
क्षिणामि ब्रह्मणाऽमित्रानुन्नयामि स्वानहम् ॥
अ० ३ । १९ । ३ ॥

(ये+नः) जो हमारे (मघवानम+सूरिम्) ऐश्वर्य्यसम्पन्न ज्ञानी से (पृतन्यान्) फितना करें, फसाद करें (नीचै+पद्यन्ताम्) वे नीचे गिरें (अधरे भवन्तु) [और] तुच्छ होवें (अहम् ब्रह्मणा) मैं ज्ञान द्वारा (अमित्रन्+क्षिणामि) शत्रुओं को नष्ट करता हूँ (स्वान्+उन्नयामि) [और] अपनों को ऊपर उठाता हूँ।

तीक्ष्णीयांसः परशोरग्नेस्तीक्ष्णतरा उत ।
इन्द्रस्य वज्रात्तीक्ष्णीयांसो येषामस्मि पुरोहितः ॥
अ० ३ । १९ । ४ ॥

(येषाम्+पुरोहितः+अस्मि) जिनका मैं पुरोहित हूँ (परशोः+तीक्ष्णीयांसः) वे परशु से अधिक तीक्ष्ण होते हैं (उत+अग्नेः+तीक्ष्णतराः) और अग्नि से भी अधिक तेज होते हैं (इन्द्रस्य+वज्रात्) इन्द्र के वज्र=बिजली से भी (तीक्ष्णायांसः) अधिक तीक्ष्ण होते हैं।

एषामहमायुधा सं स्याम्येषां राष्ट्रं सुवीरं वर्धयामि ।
एषां क्षत्रमजरमस्तु जिष्ण्वेषां चित्तं विश्वे ऽवन्तु देवाः ॥
अ० ३ । १९ । ५ ॥

(एषाम्+आयुधा) इनके हथियारों को (अहम्+सं+स्यामि) मैं तीक्ष्ण करता हूँ (एषाम्+राष्ट्रम्) इनके राष्ट्र को (सुवीरम्) उत्तम वीरों से युक्त करके (वर्धयामि) बढ़ाता हूँ। (एषाम् क्षत्रम्) इनका क्षात्र तेज, वीरता (अजरम्+अस्तु) अन्यून हो, कम न हो (एषाम्+जिष्णु+चित्तम्) इनके जयशील चित्त को (विश्वे देवाः) सभी ज्ञानी (अवन्तु) तृप्त करें, प्रसन्न करें।

पुरोहित का अर्थ है—अगुआ, नेता, लीडर। वैदिक काल में संपूर्ण राष्ट्र या समाज के नेता को पुरोहित कहते थे। पुरोहित का कार्य्य केवल संस्कार आदि कराना ही नहीं होता था, वरन् अपने यजमानों के, जिनमें सभी वर्णों के लोग रहते थे, सब प्रकार के

कल्याण और अभ्युत्थान के लिए क्रियामय यत्न पुरोहित का कर्त्तव्य होता था। इसके लिए पुरोहित को सब विद्याओं का जानना अत्यन्त आवश्यक था।

पुरोहित ललकारकर कह रहा है कि मेरे होते मेरे यजमानों पराभव, पराजय असंभव है। मेरे यजमान संसार के तीक्ष्ण पदार्थों की अपेक्षा भी तीक्ष्ण हैं। मैं इनके शस्त्रास्त्र जुटाता हूँ, इनके राष्ट्र को वीरों से भरपूर करता हूँ। मेरे यजमानों के जो शत्रु और विरोधी हैं, उनकी दुर्दशा कर देता हूँ। अपने यजमानों का हर तरह कल्याण और अभ्युत्थान करता हूँ।

इस वैदिक पुरोहित और आजकल के पुरोहित में कोई समता है क्या ?

शस्त्रधारी ब्राह्मण

तीक्ष्णेषवो ब्राह्मणा हेतिमन्तो यामस्यन्ति शरव्यां न सा मृषा ।
अनुहाय तपसा मन्युना चोत दूरादव भिन्दन्त्येनम् ॥
अ० ५ । १८ । ९ ॥

(तीक्ष्णेषवः) तेज़ हथियारों वाले (हेतिमन्तः) शस्त्रास्त्रधारी (ब्राह्मणाः) ब्राह्मण (याम् शरव्याम्) जिस शस्त्र को (अस्यन्ति) फेंकते हैं, चलाते हैं (सा न मृषा) वह व्यर्थ नहीं होता (च) और (तपसा) तप के साथ, शक्ति के साथ (उत) और (मन्युना) विचार के साथ, क्रोध के साथ (अनुहाय) पीछा करके (एनम् दूरात्) इसको, दूर से (अव+भिन्दन्ति) फोड़ देते हैं।

कई मूढ़ लोगों का विचार है कि शस्त्रास्त्र का प्रयोग केवल क्षत्रिय का कर्त्तव्य है। वे वेद के इस मन्त्र को पढ़ें और अपना अज्ञान दूर करें। क्षत्रिय का निशाना भले चूक जाए, किन्तु ब्राह्मण का निशाना अचूक होता है, वह कभी बेकार नहीं जाता। क्षत्रिय के

प्रहार से शायद कोई बच जाए । किन्तु ब्राह्मण की मार से बचना असम्भव-सा है । ब्राह्मण शत्रु का पीछा अन्धाधुन्ध नहीं करता, वरन् विचारपूर्वक उसका पीछा करता है, और तब तक करता है, जब तक कि अपना उद्देश्य सिद्ध नहीं कर लेता ।

क्षत्रिय

क्षत्रिय के कर्त्तव्य

धृतव्रताः क्षत्रिया यज्ञनिष्कृतो बृहद्दिवा अध्वराणामभिश्रियः ।
अग्निहोतार ऋतसापो अद्रुहोऽपो असृजन्ननुवृत्रतूर्ये ॥
ऋ० १० । ६६ । ८ ॥

(धृतव्रताः) व्रतधारी, नियमानुसारी (यज्ञनिष्कृतः) सत्कार-संगति-सम्प्रदान रूप सत्कर्मों के करने वाले (बृहद्दिवाः) अत्यन्त तेजस्वी (अध्वराणाम्) हिंसाशून्य कर्मों के (अभिश्रियः) शोभा करने वाले, सजाने वाले (अग्निहोतारः) अग्निहोत्र करने वाले (ऋतसापः) सत्यनिष्ठ (अद्रुहः) द्रोह न करने वाले (क्षत्रियाः) क्षत्रिय (वृत्रतूर्य्ये) शत्रुनाशक युद्ध में (अपः) कर्म्मों को (अनु+असृजन्) अनुकूलता से करते हैं ।

क्षत्रिय के लिए अग्निहोत्र और यज्ञ भी उतने आवश्यक हैं, जितना युद्ध । क्षत्रियों को सत्यपरायण तथा अद्रोही होना चाहिए । झूठ, छल, कपट से ऊपर उठकर अध्वर=हिंसारहित कर्म्मों की रक्षा का सदा यत्न करना चाहिए ।

साम्राज्याधिकारी क्षत्रिय

ऋतावाना निषेदतुः साम्राज्याय सुक्रतू ।
धृतव्रता क्षत्रिया क्षत्रमाशतुः ॥ ऋ० । ८ । २५ । ८ ॥

(ऋतावाना) सत्य के अनुसार चलने वाले (धृतव्रता) व्रतधारी

(क्षत्रिया) क्षत्रिय (क्षत्रम्) क्षात्रतेज को, दु:ख-निवारण शक्ति को (आशतु:) प्राप्त करते हैं। (सुक्रतू) उत्तम कर्म करते हुए (साम्राज्याय) साम्राज्य के लिए (नि+सेदतु:) यत्न करते हैं।

राज्याधिकार क्षत्रिय का है। क्षत्रिय का अर्थ है क्षत्र में श्रेष्ठ। क्षत्र का अर्थ है—क्षत्+त्र=चोट से रक्षा करने वाला। जिस मनुष्य या समुदाय में परपीड़ा से व्याकुल होने की भावना हो, उसे क्षत्रिय कहते हैं। अर्थात् परदु:खापहरण क्षत्रिय का मुख्य कार्य्य है। जिस क्षत्रिय में इस गुण के साथ सत्याचरण तथा नियमपालन भी स्वभावसिद्ध हो, वह राज्य और साम्राज्य का अधिकारी होता है।

राजा का चुनाव

त्वां विशो वृणतां राज्याय त्वामिमाःप्रदिशः पञ्च देवीः।
वर्ष्मन् राष्ट्रस्य ककुदि श्रयस्व ततो न उग्रो वि भजा वसूनि॥
अ० ३।४।२॥

(विश:) प्रजाएँ (त्वां+राज्याय) तुझको, राज्य के लिए (वृणताम्) चुनें। (इमा:+पंच देवी:) यह पाँच दिव्य गुणों वाली (प्रदिश:) प्रदिशाएँ (त्वाम्) तुझको [राज्य के लिये चुनें] (राष्ट्रस्य) राष्ट्र के (वर्ष्मन्) शक्तियुक्त, सुखदायी (ककुदि) श्रेष्ठ स्थान में (श्रयस्व) आश्रय कर। (उग्र:) और उग्र होकर, तेजस्वी होकर (तत: न:) वहाँ से हमें (वसूनि भज) धन दे।

सब लोग मिलकर राजा का चुनाव करें। राजा उस श्रेष्ठ सुखदायी राज्यपद पर आरुढ़ होकर प्रजा के धन-धान्य की वृद्धि करे।

राजसभा

सभा च मा समितिश्चावतां प्रजापतेर्दुहितरौ संविदाने ।
येना संगच्छा उप मा स शिक्षाच्चारु वदानि पितरः संगतेषु ॥
अ० ७।१२।१॥

(प्रजापतेः) प्रजापालक राजा की (दुहितरौ) कन्यातुल्य (संविदाने) एक-दूसरे के अनुकूल कार्य्य करने वाली (सभा) सभा (च-च) और (समितिः) समिति (म+अवताम्) मेरी रक्षा करें। (येन+संगच्छै) जिसके साथ मैं मिलूँ, (सः मा+उपशिक्षात्) वह मुझे शिक्षा देवे। (पितरः) हे ज्ञानियो ! रक्षको ! वृद्धो ! (संगतेषु) सभाओं में, सम्मेलनों में (चारु) ठीक-ठीक, अच्छा, युक्त (वदानि) मैं बोलूँ।

राजा को चाहिए, कि राज्यकार्य्यसंचालन के लिए वह दो सभाओं का निर्माण करे। एक समिति—जिसमें सर्वसाधारण के प्रतिनिधि हों, और दूसरी सभा जिसमें विशिष्ट तेजस्वी लोग हों। समिति आजकल का House of Commons कॉमन सभा, और सभा आजकल का House of Lords लार्ड सभा प्रतीत होती है। सभा और समिति का एक अर्थ धारासभा Legislative Council और युद्धसमिति War Cabinet भी होता है। इसके अतिरिक्त सभा का अर्थ मन्त्रिपरिषत्=अन्तरंग सभा और समिति का अर्थ साधारण धारासभा होता है। सभा और समिति में जाकर ठीक-ठीक बोलना चाहिए।

ये दोनों सभाएं राजा की पुत्रियाँ हैं। पिता का कार्य्य पुत्री की रक्षा और पालन है। अर्थात् राजा इन सभाओं की रक्षा करे। इन दोनों सभाओं के द्वारा राष्ट्र के लोगों के मन का ज्ञान होता है। अतः प्रजा का मत जानने के लिए राजा इन सभाओं की पूरी-पूरी

रक्षा करे, और सभासद् भी सत्य-सत्य और उचित कहे।

सभासद्

विद्म ते सभे नाम नरिष्टा नाम वा असि।
ये ते के च सभासदस्ते मे सन्तु सुवाचसः ॥
अ० ७। १२। ३॥

(सभे) हे सभा ! (ते+नाम) तेरा नाम (विद्म) हम जानते हैं (वै) सचमुच (नरिष्टा) नष्ट न होने वाली, मनुष्यों का भला करने वाली (नाम+असि) तू प्रसिद्ध है। (ये+के+च+ते) जो कोई वे (सभासदः) सभासद् हों (ते मे) वे मेरे लिए (सुवाचसः) उत्तम बोलने वाले, सत्य बोलने वाले (सन्तु) हों।

जिस देश का शासन राजा सभाद्वारा करता है, वहाँ मनुष्यों को किसी प्रकार का कष्ट नहीं होता। उस सभा को उपयोगी बनाने के लिए आवश्यक है कि उस सभा के सभासद् सत्य-सत्य कहने वाले हों।

स्वराज्य

आ यद् वामीयचक्षसा मित्र वयं च सूरयः।
व्यचिष्टे बहुपाय्ये यतेमहि स्वराज्ये ॥
ऋ० ५। ६६। ६॥

(मित्र) हे विरोधरहित (वामीयचक्षसा) विशाल दृष्टि वालो (वयम्+सूरयः) हम विद्वान् (च) और [तुम] (व्यचिष्टे) विस्तृत (बहुपाय्ये) अनेकों से रक्षा करने योग्य (स्वराज्ये) स्वराज्य में (आ+यतेमहि) सब प्रकार से यत्न करें।

स्वराज्य-प्राप्ति के लिए सब में पारस्परिक प्रीति हो। लोग संकुचित दृष्टि वाले न हों। वरन् विशाल दृष्टि वाले हों। स्वराज्य

किसी एक के यत्न से प्राप्त और रक्षित नहीं हो सकता, वरन् उसकी सिद्धि के लिए अनेकों को यत्न करना होता है ।

वीरो ! सज जाओ

उत्तिष्ठत संनह्यध्वमुदाराः केतुभिः सह ।
सर्पा इतरजना रक्षांस्यमित्राननु धावत ॥

अ० ११ । १० । १ ॥

(उदाराः) हे उदार मनुष्यो ! (उत्तिष्ठत) उठो, (केतुभिः+सह) झण्डों के साथ, हथियारों के साथ (संनह्यध्वम्) संनद्ध हो जाओ, तैयार हो जाओ । (सर्पाः) [जो] साँप के समान (इतरजनाः) शत्रुजन हैं (रक्षांसि) ऐसे राक्षसों (अमित्रान्+अनु) और शत्रुओं के पीछे (धावत) दौड़ो, धावा करो ।

दूसरों के लिए कष्ट सहन करने वाले को उदार कहते हैं । शूर क्षत्रिय, जो दूसरों के त्राण के लिए अपने प्राणों को संकट में डाल देते हैं, वे सच्चे उदार हैं ।

युद्ध में जाते हुए हथियारों के साथ अपने झण्डे भी ले जाने चाहिए । दुष्टों पर धावा बोल देना चाहिए, उनके आक्रमण की प्रतीक्षा नहीं करनी चाहिए ।

झण्डा ऊँचा रखो

आदित्या रुद्रा वसवः सुनीथा द्यावाक्षामा पृथिवी अन्तरिक्ष ।
सजोषसो यज्ञमवन्तु देवा ऊर्ध्वं कृण्वन्त्वध्वरस्य केतुम् ॥

ऋ० ३ । ८ । ८ ॥

(सुनीथाः) उत्तमनीति वाले (आदित्याः) आदित्य (रुद्राः) रुद्र (वसवः) वसु (पृथिवी) विशाल (द्यावाक्षामा) द्यौ और पृथिवी (अन्तरिक्षम्) [तथा] अन्तरिक्ष (देवाः) विद्वान्, परोपकारी

(सजोषसः) समान प्रीति वाले होकर (यज्ञम्) यज्ञ को (अवन्तु) रक्षित करें (अध्वरस्य) [और] यज्ञ के (केतुम्) झण्डे को (ऊर्ध्वम्) ऊँचा (कृण्वन्तु) करें, रखें।

झण्डा किसी जाति या देश के भावों का द्योतक होता है। उसकी रक्षा सब का कर्त्तव्य है। महाविद्वान् से लेकर निपट अज्ञानी को उसकी रक्षा करनी होती है। वेद का झण्डा तो 'अध्वर—केतु' अहिंसा का निशान है। सब को शान्ति का सन्देश देता है। ऐसे झण्डे को सभी ऊँचा रखने का यत्न करें, उसे नीचे न गिरने दें।

झण्डा

केतुं कृण्वन्नकेतवे पेशो मर्य्या अपेशसे ।
समुषद्भिरजायथाः ॥ ऋ० १। ६। ३ ॥

(मर्य्याः) हे मनुष्य ! (अकेतवे) अज्ञानी के लिये (केतुम्) ज्ञान, निशान (अपेशसे) [और] अरूप के लिये (पेशः) रूप, सौन्दर्य (कृण्वन्) करता हुआ, बनाता हुआ तू (उषद्भिः) प्रकाशमानों के साथ (सम्+अजायथाः) प्रसिद्ध हो।

वैदिक केतु या पताका या झण्डा एक संकेत है। इसके उठाने वालों पर एक कर्त्तव्य है कि वे संसार में ज्ञान और सदाचार का प्रचार करें। संसार में जब तक एक भी अज्ञानी या दुराचारी है, वेद-प्रचारकों को विश्राम या विराम का कोई अधिकार नहीं है।

विजय हमारा

जितमस्माकमुद्भिन्नमस्माकमृतमस्माकं तेजोऽस्माकं ।
ब्रह्मास्माकं स्वरस्माकं यज्ञोऽस्माकं प्रजा अस्माकंवीरा अस्माकम् ॥
अथर्व० १६। १। ८॥

(जितम्+अस्माकम्) विजय हमारा (उद्भिन्नम्+अस्माकम्) परिश्रम से कमाया धन हमारा, (ऋतम्+अस्माकम्) सत्य हमारा

(तेज:+अस्माकम्) तेज हमारा, (ब्रह्म+अस्माकम्) प्रभु, ज्ञान, वृद्धि हमारी, (स्वर्+अस्माकम्) सुख-आनन्द हमारा, (यज्ञ:+अस्माकम्) यज्ञ हमारा (प्रजा:+अस्माकम्) प्रजाएँ और सन्तान हमारे (वीरा:+अस्माकम्) वीर हमारे [हैं]।

शूरवीर हमारे पक्ष में हैं, अतएव प्रजाएँ हमारी सहयोगी हैं। प्रजाओं के सहयोग के कारण यज्ञ=सारा संगठन हमारे साथ है। इसी कारण मानो आनन्द भी हमारे साथ है। आनन्द का सहयोग भगवान् ब्रह्म के साहाय्य का सूचक है। परमात्मा के सहयोग के कारण हम तेजस्वी हैं, और इसी वास्ते सत्य हमारे साथ है। जब सत्य साथ हो, तो धन और विजय में क्या सन्देह हो सकता है ?

गोहत्यारे को दण्ड

यदि नो गां हंसि यद्यश्वं यदि पुरुषम्।
तं त्वा सीसेन विध्यामो यथा नो असो अवीरहा॥
अ० १।१६।४॥

(यदि) यदि (नः) हमारी (गाम्) गौ को (हंसि) तू मारता है (यदि) यदि (अश्वम्) [हमारे] घोड़े को [तू मारता है] (यदि) यदि (अश्वन्) [हमारे] घोड़े को [तू मारता है] (यदि) यदि (पुरुषम्) [हमारे] पुरुष को [तू मारता है] (तम्) उस (त्वा) तुझको (सीसेन) सीसे से (विध्यामः) हम बींधते हैं, (यथा) जिससे (नः) हमारे (अवीरहा) वीरों को न मारने वाला (असः) (असः) तू होवे।

जो मनुष्य किसी गौ-आदि पशु अथवा सन्तान की हत्या करे, उसे सीसे की गोली से मार देना चाहिये। अपनी सम्पत्ति एवं सन्तान की रक्षा करने के लिये आततायी के वध में कोई दोष नहीं है।

प्रजापीडकों को दण्ड

यो नः स्वो यो अरणः सजात उत निष्ट्यो यो अस्मां अभिदासति ।
रुद्र शरव्ययैतान् ममामित्रान् विविध्यतु ।। अ० १।१।६।३ ।।

(यः) जो (नः) हमारा (स्वः) अपना (यः) [या] जो (अरणः) असम्बन्धी (सजातः) सजातीय (उत) अथवा (यः) जो (निष्ट्यः) शत्रु (अस्मान्) हमको (अभि+दासति) दबाना चाहता (एतान्) इन (मम) मेरे (अमित्रान्) शत्रुओं को (रुद्रः) वीर सेनापति (शरव्यया) शरसमूह से (वि+विध्यतु) अनेक प्रकार से बींध दे ।

राजा तथा सेनापति का कर्त्तव्य है कि वह प्रजापीडकों से अपने राष्ट्र की सर्वथा रक्षा करें। प्रजापीडक चाहे अपना सम्बन्धी ही क्यों न हो, सर्वथा दण्डनीय है ।

ब्रह्मवर्म = ज्ञानकवच

यः सपत्नो योऽसपत्नो यश्च द्विषञ्छपाति नः ।
देवास्तं सर्वे धूर्वन्तु ब्रह्म वर्म ममान्तरम् ।।
अ० १।१९।४ ।।

(यः) जो (सपत्नः) शत्रु (यः) [अथवा] जो (असपत्नः) अशत्रु (च) और (द्विषन्) द्वेषी (नः) हमारा (शपाति) बुरा चाहता है (सर्वे) सभी (देवाः) देव, विद्वान् (तम्) उसको (धूर्वन्तु) फटकारें, नाश करें। (ब्रह्म) ब्रह्म,=ज्ञान (मम) मेरा (आन्तरम्) अन्दर का (वर्म) कवच [है] ।

जो मनुष्य अनिष्ट करना चाहता है, उसका नाश करने में संकोच नहीं करना चाहिये। सदा सतर्क और सावधान रहना चाहिए। शत्रु मित्र का विवेक ज्ञान सबसे बड़ा कवच=आत्मरक्षा का साधन

है। बहुधा मनुष्य मित्र-शत्रु की पहचान न होने की दशा में ही मारे जाते हैं।

धूर्तों को कठोर दण्ड

इदमिन्द्र शृणुहि सोमप यत्वा हृदा शोचता जोहवीमि ।
वृश्चामि तं कुलिशेनेव वृक्षं यो अस्माकं मन इदं हिनस्ति ॥
अ० ६। १२। २३॥

(सोमप) हे सोमपालक (इन्द्रः) इन्द्र ! राजन् ! (त्वा) तुझको (शोचता) शोकपूर्ण, दुःखी (हृदा) हृदय से, दिल से (जोहवीमि) बार-बार कहता हूँ, (इदम्) इसको (शृणुहि) सुन। (यः) जो (अस्माकम्) हमारे (इदम्) इस (मनः) मन को (हिनस्ति) मारता है, दुर्बल करता है, (तम्) उसको (कुलिशेन) कुल्हाड़े से, वज्र से (वृक्षम्+इव) वृक्ष की भाँति (वृश्चामि) काटता हूँ।

कई ऐसे धूर्त्त होते हैं, जो लोगों के मनों को दुर्बल करते रहते हैं, वास्तविक या काल्पनिक भयों की विभीषिका से लोगों के चित्तों को घबरा देते हैं, जिससे लोग हतोत्साह होकर साहसहीन हो जाते हैं। राष्ट्ररक्षा के लिये ऐसे दुष्टों को कठोर दण्ड देना चाहिए।

अग्निसमान तेजस्वी सैनिक

त्वया मन्यो सरथमारुजन्तो हर्षमाणा हृषितासो मरुत्वन् ।
तिग्मेषव आयुधा संशिशाना उप प्रयन्तु नरो अग्निरूपाः ॥
अ० ४। ३१। १॥

(मरुत्वन्) हे मरुतो मरने-मारने पर तत्पर सैनिकों वाले (मन्यो) मननशील सेनापति ! (त्वया) तेरे साथ (सरथम्) रथयुक्त को (आ+रुजन्तः) सब ओर से तोड़ते हुए (हर्षमाणाः) आनन्दित करते हुए (हृषितासः) [और] हृष्ट होते हुए (तिग्मेषवः) तीक्ष्ण

तीरों वाले (आयुधा) [और] हथियारों को (संशिशानाः) तीक्ष्ण करते हुए (अग्निरूपाः) अग्निसमान तेजस्वी (नरः) नर, नेता (उप+प्र+यन्तु) समीप प्राप्त हों।

सैनिकों का वर्णन है। सिपाही ऐसे होने चाहिएँ, जो शत्रु के बल को तोड़ दें, स्वयं प्रसन्न रहें, अपने राष्ट्र के सुख को बढ़ाने वाले हों। जिनके शस्त्रास्त्र सदा अकुण्ठित=तीव्र हों ऐसे तेजस्वी सैनिक राष्ट्र के लिये सुखदायी होते हैं।

युद्धनाश

अग्निरिव मन्यो त्विषितः सहस्व सेनानीर्नः सहुरे हूत एधि ।
हत्वाय शत्रून् विभजस्व वेद ओजो मिमानो विमृधो नुदस्व ॥
अ० ४ । ३१ । २ ॥

(मन्यो) हे मननशील सेनापति! (अग्निः—इव) अग्नि के समान (त्विषितः) प्रदीप्त हुआ, तेजस्वी होकर (सहस्व) [शत्रुओं को] मसल दे। (सहुरे) युद्ध में (हूतः) बुलाया जाकर (नः) हमारा (सेनानीः) सेनापति (एधि) हो। (शत्रून्) शत्रुओं को (हत्वाय) मारकर (वेदः) [उनका] धन (वि+भजस्य) बाँट दे। (ओजः) तेज का (मिमानः) निर्माण करता हुआ (मृधः) युद्धों को, मारक शत्रुओं को (वि+नुदस्व) दूर भगा!

सेनापति को तेजस्वी होना चाहिये। शत्रु की सम्पत्ति को सैनिकों में बाँट देना चाहिए। ऐसा तेज सम्पादन करना चाहिये कि आगे को युद्ध हो ही न सकें। संसार की भलाई इसी में है कि संसार से युद्ध समाप्त हो जाएँ।

सेनापति के अनुकूल रहो

इयं वीरमनु हर्षध्वमुग्रमिन्द्रं सखायो अनु संरभध्वम् ।
ग्रामजितं गोजितं वज्रबाहुं जयन्तमज्म प्रमृणन्तमोजसा ।।

अ० ६ । ९७ । ३ ।।

(इमम्) इस (उग्रम्) उग्र=तेजस्वी (वीरम्+अनु) वीर की अनुकूलता से (हर्षध्वम्) प्रसन्न होवो। (सखायः) [और] मित्र होकर, समान भावों वाले होकर (ग्रामजितम्) समुदायों को जीतने वाले (गोजितम्) भूमि को जीतने वाले (वज्रबाहुम्) वज्र समान भुजा वाले, (अज्म) युद्ध को (जयन्तम्) जीतने वाले, (ओजसा) ओज से (प्रमृणन्तम्) शत्रुओं को मारने वाले, (इन्द्रम्-अनु) राजा, सेनापति की अनुकूलता से (सं+रभध्वम्) एक समान वेग से आरम्भ करो।

सैनिक और सेनापति में शूरता, वीरता, विजयशीलता, बलशीलता आदि गुण आवश्यक हैं । इन गुणों के अभाव में उसे सफलता मिल ही नहीं सकती। राष्ट्र का भी कर्त्तव्य है कि वह सेना तथा सेनापति को सदा अनुकूल सहायता देता रहे, और उसकी प्रसन्नता के समय सारा राष्ट्र प्रसन्न हो उठे, ताकि वह अधिक उत्साह से राष्ट्र की सेवा कर सके ।

वैश्य

ऐश्वर्य्यसंपन्न

इन्द्रमहं वणिजं चोदयामि स न एतु पुर एता नो अस्तु ।
नुदन्नरातिं परिपन्थिनं मृगं स ईशानो धनदा अस्तु मह्यम् ।।

अ० ३ । १५ । १ ।।

(अहम्) मैं (इन्द्रम्) ऐश्वर्य्यशाली (वणिजम्) वणिक्, वैश्य को

(चोदयामि) प्रेरित करता हूँ, (सः+नः+एतु) वह हमारे पास आए। (नः) [और] हमारा (पुरः एता+अस्तु) अगुआ होवे। (सः+ईशानः) वह समर्थ (अरातिम्) शत्रु को, कंजूस को (परि-पन्थिनम्) डाकू को, विरोधी को (मृगम्) पशु-स्वभाव वाले को (नुदन्) हटाता हुआ (मह्यम्) मेरे लिए, (धनदाः+अस्तु) धन देने वाला होवे।

ये पन्थानो बहवो देवयाना अन्तरा द्यावापृथिवी सञ्चरन्ति ।
ते मा जुषन्तां पयसा घृतेन यथा क्रीत्वा धनमाहराणि ।।

अ० ३ । १५ । २ ।।

(द्यावापृथिवी+अन्तरा) द्यावापृथिवी के बीच में (ये) जो (देवयानाः) व्यवहारी मनुष्यों के आने-जाने योग्य (बहवः) बहुत-से (पन्थानः) मार्ग (संचरन्ति) चलते हैं (ते) वे [मार्ग] (मा) मुझको (पयसा) दूध से (घृतेन) घृत से (जुषन्ताम्) तृप्त करें (यथा) जिससे (क्रीत्वा) क्रय-विक्रय करके, व्यवहार-व्यापार करके (धनम्) धन (आहराणि) लाऊँ।

व्यापार के लिए प्रशस्त मार्ग होने चाहिएँ, जिससे व्यापारी देश-देशान्तर और द्वीप-द्वीपान्तर में निर्विघ्न व्यापार कर सकें। और ऐसी व्यवस्था करनी चाहिए कि व्यापारी को सर्वत्र खान-पान की सुविधा हो।

व्यापार में वृद्धि

येन धनेन प्रपणं चरामि धनेन देवा धनमिच्छमानः ।
तन्मे भूयो भवतु माकनीयोऽग्ने सातघ्नो देवान्हविषा निषेध ।।

अ० ३ । १५ । ३ ।।

(देवाः) हे व्यवहार-कुशल व्यापारियो! (धनेन) धन के द्वारा (धनम्+इच्छमानः) धन चाहता हुआ (येन+धनेन) जिस धन से

(प्रपणम्) व्यापार (चरामि) चलाता हूँ (मे+तत्) मेरा वह (भूयः +भवतु बहुत होवे, बढ़े। (मा+कनीयः) मत थोड़ा [होवे] (अग्ने) हे नेतः! (सातघ्नान्) वृद्धि में विघ्न करने वाले (देवान्) व्यापारियों को (हविषा) हविः से निषेध रोक।

व्यापार में धन लगाने से धन बढ़ता है। ऐसी युक्ति करनी चाहिए कि वह धन बढ़ता जाए, कम न होने पाए। व्यापार के विघ्नकारियों को मार्ग से हटा देना चाहिए।

संगठन से उन्नति

सं समिद्युवसे वृषन्नग्ने विश्वान्यर्य आ।
इळस्पदे समिध्यसे स नो वसून्या भर॥
ऋ० १०। १९१। १॥

(वृषन्) हे सुखवर्षक! हे बलवान्! (अग्ने) हे सर्वोन्नतिसाधक! हे सर्वज्ञानाधार! (अर्य) हे स्वामिन्! प्रभो! (विश्वानि) सब [पदार्थों] को (इत) सचमुच (सं+सम्+आ+युवसे) अत्यन्त उत्तम रीति से तू मिलाता है। (इलः+पदे) हृदयरूपी भूमि के ठिकाने में (सम्+इध्यसे) उत्तम रीति से तू प्रकाशित होता है (सः) ऐसा तू (नः) हमें (वसूनि) धन (आ+भर) प्राप्त करा।

मनुष्य की सारी चेष्टा दुःखनिवारण और सुख-प्राप्ति के निमित्त होती है, अतः अन्त में सुखवर्षक भगवान् के शरण में जाकर उसी से वह सुख की कामना करता है, वही सबकी उन्नति करता है, और वही सब का स्वामी है। उसको साधक ने अपने हृदय में प्रकाशमान और विराजमान अनुभव किया है, अतः उसी से अपने दुःखों के नाशक और सुखों के साधक धनों की प्राप्ति के लिए प्रार्थना की है। इस प्रार्थना का भगवान् ने अगले तीन मन्त्रों में उत्तर दिया है—

संगच्छध्वं सं वदध्वं सं वो मनांसि जानताम् ।
देवा भागं यथा पूर्वे सं जानाना उपासते ॥
ऋ० १० । १९१ । २ ॥

(सं+गच्छध्वम्) तुम सब एक चाल चलो=तुम सब एक साथ चलो ।(सं वदध्वम्) तुम सब एक साथ बोलो, एक-सा बोलो (वः) तुम्हारे (मनांसि) मन (सं+जानताम्) एक-सा जानें । (यथा) जिस प्रकार, (पूर्वे) पूर्ण (देवाः) व्यवहारकुशल=कर्त्तव्य निष्ठ ज्ञानी (सं+जानानाः) एकता को जानते हुए (भागम्) कर्त्तव्य को, सेवा को (उप+आसते) सेवन करते हैं ।

मनुष्य-समाज यदि सुख चाहता है, तो उसको उत्तम प्रकार का एक-सा आचार बनाना होगा । उस उत्तम आचार के लिए एक-सा उच्चार बोली=भाषा को ग्रहण करना होगा । उच्चार की समानता के लिए विचार की समानता अनिवार्य्य है । विद्वान् लोगों का ऐसा ही व्यवहार होता है । दूसरे शब्दों में संगति, संवाद एवं संज्ञान से ही मनुष्य का कल्याण हो सकता है ।

समानो मन्त्रः समितिः समानी समानं मनः सह चित्तमेषाम् ।
समानं मन्त्रमभिमन्त्रये वः समानेन वो हविषा जुहोमि ॥
ऋ० १० । १९१ । ३ ॥

(मन्त्रः) [तुम्हारा] मन्त्र, विचार (समानः) एक हो । (समितिः) सभा, संगति (समानी) एक-सी हो । (मनः) मन (समानम्) एक-सा हो (एषाम्) इनका (चित्तम्) चित्त, समझ (सह) साथ हो । (वः) [क्योंकि] तुम्हारे लिये (समानम्) एक-से (मन्त्रम्) मन्त्र को [वेदमन्त्र को] (अभि+मन्त्रये) अभिमन्त्रित करता हूँ, (वः) तुमको (समानेन) समान (हविषा) हवि, अन्न, उपभोग (जुहोमि) देता हूँ ।

विचार, विचारसभा, विचारसाधन तथा विचार का फल समझ-कर सबकी धारणा एक-सी होनी चाहिए। भगवान् कहते हैं कि तुम सब को मैंने एक ही मन्त्र-वेदमन्त्र दिया है, और तुम्हारे लिए एक ही भोगसामग्री दी है।

समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः ।
समानमस्तु वो मनो यथा वः सु सहासति ॥

ऋ० १०। १९१। ४॥

(वः) तुम्हारी (आकूतिः) संकल्पशक्ति, लक्ष्यदृष्टि (समानी) एक-सी हो। (वः) तुम्हारे (हृदयानि) हृदय, दिल, भावनाएँ (समाना) एक-से हों (वः) तुम्हारा (मनः) मन=मस्तिष्क, दिमाग (समानम्) एक-समान (अस्तु) हो। (यथा) जिससे (वः) तुम्हारा (सह) बल, सामर्थ्य (सु+असति) उत्तम प्रकार का होवे।

संकल्प की एकता के लिए सारे समुदाय को दिल-दिमाग भी वैसे बनाने चाहिएँ।

'संसमिद्युवसे,—'से यहाँ तक के चार मन्त्र ऋग्वेद के अन्तिम मन्त्र हैं। ऋग्वेद में विज्ञान—परमाणु से लेकर ब्रह्मपर्य्यन्त सब पदार्थों का यथार्थ मनुष्योपयोगी ज्ञान—का भगवान् ने उपदेश किया है। उस समस्त ज्ञान का फल मनुष्य के आचार-विचार की एकता होनी चाहिए, उसके लिए भगवान् ने ऋग्वेद के अन्त में इस सुन्दर सुमनोहर संज्ञान का उपदेश किया है। जो समाज या राष्ट्र इस के अनुसार आचरण करेगा, अवश्य वह धन-धान्य से परिपूर्ण और सुख समृद्धि से समृद्ध होगा।

इस सूक्त का, जैसाकि हम बता चुके हैं, पहला मन्त्र भगवान् से प्रार्थना है। प्रार्थी ने धन की प्रार्थना की है। भगवान् ने उत्तर में धन, सुखसाधन प्राप्त करने की युक्तियों का अगले तीन मन्त्रों में उपदेश कर दिया है। उस उपदेश का सार यह है—कि संघ-शक्ति

उत्पन्न करो। संघ-शक्ति के लिए आचार, उच्चार, विचार की समानता, उद्देश्यों, भावनाओं की समता, दिलों और दिमागों की एकता, दिल और दिमाग का परस्पर सहयोग, उपासनापद्धति की समानता, खान-पान की समानता आवश्यक है। जब इस प्रकार की समता समाज में हो, तब ईर्ष्या द्वेष, वैर वैमनस्य का कोई स्थान नहीं रहता।

शान्तिपाठ

ओ३म् । द्यौः शान्तिरन्तरिक्ष७ँशान्तिः पृथिवी शान्तिरापः
शान्तिरोषधयः शान्तिः ।

वनस्पतयः शान्तिर्विश्वेदेवाः शान्तिर्ब्रह्म शान्तिः सर्व७ँशान्तिः
शान्तिरेव शान्तिः सा मा शान्तिरेधि ॥ य० ३६ । १७ ॥

(द्यौः) द्युलोक शान्तिदायक [हो] (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्ष, पृथिवी और द्यौ के बीच का विस्तृत अवकाश (शान्तिः) शान्ति देने वाला हो। (आपः) जल (शान्तिः) शान्ति हों। (ओषधयः) ओषधियाँ, (शान्तिः) शान्तिप्रद हों! (वनस्पतयः) वनस्पतियाँ, महा-वृक्ष आदि (शान्तिः) शान्ति देने वाले हों। (विश्वे+देवाः) सम्पूर्ण देव, दैवी शक्तियाँ (शान्तिः) शान्तिकारक हों। (ब्रह्म) ज्ञान (शान्तिः) शान्तिप्रद हो। (सर्वम्) सब, कर्म्म (शान्ति) शान्ति देने वाला हो। (शान्तिः) शान्ति [भी] (शान्तिः+एव) शान्ति ही हो! (सा+शान्तिः) ऐसी शान्तिः (मा+एधि) मुझे हो।

प्रत्येक यज्ञ=शुभ कर्म्म के अन्त में इस मन्त्र के द्वारा सर्व—शान्तिप्रदाता शुभविधाता परमात्मा से सबकी शान्ति के लिए शुभ कामना की जाती है।

इस मन्त्र में शान्तिकामना का एक अद्भुत क्रम है। सब से पहले द्यौ में शान्ति की कामना की गई है। द्यौ के नीचे अन्तरिक्ष

आता है, अतः तत्पश्चात् अन्तरिक्ष में शान्ति के लिए प्रार्थना की गई है। अन्तरिक्ष के नीचे पृथिवी है, अतः क्रमानुसार पृथिवी में शान्ति चाही गई है। इस पृथिवी पर शान्ति का प्रतिनिधि विशाल जल है, हमारे कुकर्म्मों से वह हमारे लिए उपद्रव का कारण न बने, अतः जल की शान्ति के लिए प्रार्थना की गई है। जल संसार के जीवन का हेतु है, ओषधि वनस्पति इसी से उत्पन्न होती और जीती हैं, अतः ओषधियों और वनस्पतियों के निरुपद्रव होने की भावना की गई है। एक एक की गणना न करके सब पदार्थों की निरुपद्रवता की कामना की गई है। फिर ज्ञान के शान्तिदायक होने की याच्ञा की गई है। ज्ञान के शान्तिप्रद होने पर सभी शान्त हो जाते हैं, अतः ज्ञान के साथ 'सर्वं' की शान्ति चाही गई है। किन्तु वह शान्ति जीवन-नाश से उत्पन्न होने वाली शान्ति न हो, वरन् सचमुच शान्ति हो। और ऐसी शान्ति सदा-सर्वदा सबको मिलती रहे।

सभी मनुष्यों का कर्त्तव्य है कि वे ऐसे उपायों का अवलम्बन करें, जिससे संसार से अशान्ति-उपद्रव दूर होकर शान्ति, सुख, समृद्धि की वृद्धि हो। किन्तु स्मरण रहे, वह शान्ति जीवन को शान्त करने वाली हो, सान्त करने वाली न हो।

ओं शान्तिः शान्तिः शान्तिः।

स्वाध्याय उपयोगी पुस्तकें

मन की अपार शक्ति	प्रो० सुरेशचन्द्र वेदालंकार	१-२५
आकर्षक व्यक्तित्व कैसे बने ?	,,	१-५०
हम सुखी कैसे रहें ?	पं० सत्यपाल शास्त्री	१-००
महर्षि दयानन्द जीवन चरित्र	पं. इन्द्र विद्यावाचस्पति	१-५०
महर्षि दयानन्द	त्रिलोकचन्द्र विशारद	०-७५
गुरु विरजानन्द	,,	०-५०
दयानन्द चित्रावली	रामगोपाल विद्यालंकार	२-५०
गो रक्षा परमकर्तव्य	पं० धर्मदेव विद्यामार्तण्ड	०-५०
गीत भण्डार	पं० नन्दलाल	३-००
व्याख्यान माला	स्वामी अच्युतानन्द	२-५०
बृहदारण्यक उपनिषद् कथामाला	स्वामी ब्रह्ममुनि	३-००
श्वेताश्वतर उपनिषद्	पण्डित भीमसेन	१-००
विवाह और विवाहित जीवन	पं० गंगाप्रसाद उपाध्याय	२-५०
स्त्रियों का स्वास्थ्य और रोग	पं० अत्रिदेव विद्यालंकार	३-००
दर्शनानन्द ग्रन्थ संग्रह (उत्तरार्द्ध)	स्वामी दर्शनानन्द	२-५०
वेद परिचय	स्वामी वेदानन्द	०-३७
जीवन ज्योति	चमूपति एम० ए०	४-००
बाल ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका	पं० विश्वनाथ विद्यालंकार	०-७५
आर्य सिद्धान्त दीप	पं० मदनमोहन विद्यासागर	१-२५
गीत श्रद्धाञ्जलि	(भजन)	१-००
महिला पुष्पाञ्जलि	,,	०-५०
हिन्दु संगठन	स्वामी श्रद्धानन्द	१-००
ओंकार व्याख्या	पं० अयोध्या प्रसाद	०-२०
नमस्ते की व्याख्या	पं० सुखदेव	०-२०
सत्य हरिश्चन्द्र नाटक	भारतेन्दु हरिश्चन्द्र	१-००
नास्तिकवाद	देवेन्द्रनाथ शास्त्री	०-५०

[illegible]

Om

Sa vidya ya vimuktaye

Dr. R. D. RANADE'S

DHYĀNA
GĪTĀ

ANDE

BHAVAN, BOM